ईश्वर कौन है: स्वरूप से अरूप तक

लेखक: Aadisatv

Chapter 1 — प्रश्न का जन्म

मनुष्य के भीतर सबसे पहला मंदिर किसी पत्थर से नहीं बनता। वह एक प्रश्न से बनता है। बाहर मंदिर बाद में उठते हैं, मूर्तियाँ बाद में आती हैं, शास्त्र बाद में खुलते हैं, गुरुओं की वाणी बाद में सुनाई देती है। सबसे पहले भीतर कहीं एक हल्की-सी बेचैनी जन्म लेती है। जीवन चलता रहता है, शरीर बड़ा होता रहता है, इच्छाएँ आती-जाती रहती हैं, रिश्ते बनते-बिखरते रहते हैं, धन, नाम, सुरक्षा, सम्मान, सुख—सब अपनी-अपनी दिशा में खींचते रहते हैं, पर इन सबके बीच कभी-कभी एक क्षण ऐसा आता है जब मनुष्य अचानक ठहर जाता है और पूछता है, “यह सब है क्या?”

यही प्रश्न का जन्म है।

यह प्रश्न हमेशा शब्दों में नहीं आता। कभी यह किसी प्रिय के जाने पर आता है, कभी किसी अपार सफलता के बाद भी भीतर खालीपन बच जाने पर आता है। कभी यह किसी रात अकेले छत पर आकाश देखते हुए उठता है। कभी किसी मंदिर की घंटी सुनकर, कभी किसी बच्चे की हँसी में, कभी मृत्यु की खबर से, कभी प्रेम में टूटकर, कभी संसार जीत लेने के बाद भी स्वयं से हारकर। यह प्रश्न बाहर से छोटा लगता है, लेकिन भीतर से यह सबसे बड़ा द्वार है।

मनुष्य पूछता है, “ईश्वर कौन है?” पर सच में वह पूछ रहा होता है, “मैं कौन हूँ?” क्योंकि जो ईश्वर को जानना चाहता है, वह पहले से ही अपने भीतर किसी ऐसे सत्य की सुगंध लिए बैठा है जो संसार की किसी वस्तु से तृप्त नहीं होता। पत्थर को ईश्वर की खोज नहीं होती। पेड़ भी अपने ढंग से ईश्वर में हैं, पर वे प्रश्न नहीं पूछते। प्रश्न मनुष्य का वरदान है और उसका दुःख भी। प्रश्न ही उसे भटकाता है और प्रश्न ही उसे घर लौटाता है।

जब बच्चा जन्म लेता है, वह ईश्वर से दूर नहीं होता। वह किसी सिद्धांत को नहीं जानता, किसी धर्म को नहीं जानता, किसी पूजा-पद्धति को नहीं जानता, फिर भी उसमें एक सहज खुलापन होता है। वह देखता है, रोता है, हँसता है, सोता है, जागता है। उसके और जीवन के बीच अभी विचारों की मोटी दीवार नहीं बनी होती। फिर धीरे-धीरे नाम चढ़ते हैं, पहचानें चढ़ती हैं, संस्कार चढ़ते हैं। उसे बताया जाता है कि यह तुम्हारा नाम है, यह तुम्हारा धर्म है, यह तुम्हारा परिवार है, यह तुम्हारा समाज है, यह तुम्हारा लक्ष्य है, यह तुम्हारा भगवान है। वह सीखता है, स्वीकार करता है, डरता है, चाहने लगता है। और एक दिन वह इतना भर जाता है कि अपने मूल मौन को भूल जाता है।

भूलना ही संसार है।

जो कभी सहज था, वही खोया हुआ लगता है। जो कभी स्वाभाविक था, वही अब साधना बन जाता है। जो तुम हमेशा से हो, उसे पाने के लिए यात्रा शुरू होती है। यही मनुष्य की अद्भुत लीला है। वह अपने ही घर से निकलता है, रास्तों में भटकता है, दिशाओं से पूछता है, नक्शे बनाता है, तीर्थ करता है, मंत्र जपता है, ध्यान करता है, रोता है, पुकारता है—और अंत में पाता है कि जहाँ पहुँचना था, वहाँ से कभी निकला ही नहीं था।

पर यह अंत की बात है। शुरुआत में यह बात सुनने में भी अजीब लगती है। शुरुआत में प्रश्न बहुत सच्चा लगता है। “ईश्वर कौन है?” यह प्रश्न केवल दर्शन नहीं है। यह भूख है। यह भीतर की प्यास है। यह उस हृदय की पुकार है जिसे संसार ने बहुत कुछ दिया, पर स्वयं से मिलना नहीं दिया।

अक्सर लोग ईश्वर को खोजने बैठते हैं जैसे किसी खोई हुई वस्तु को खोजा जाता है। जैसे चाबी खो गई हो, जैसे कोई व्यक्ति कहीं चला गया हो, जैसे कोई खजाना किसी पर्वत में छिपा हो। वे ऊपर देखते हैं, बाहर देखते हैं, मंदिरों में देखते हैं, मूर्तियों में देखते हैं, तारों में देखते हैं, शास्त्रों में देखते हैं। यह सब यात्रा का भाग है। इसमें कोई गलती नहीं है। जब तक आँख बाहर देखने की आदी है, वह बाहर ही देखेगी। जब तक मन रूप को पकड़ता है, वह अरूप की बात कैसे समझेगा? इसलिए आरंभ में ईश्वर बाहर खड़ा दिखाई देता है। कोई रक्षक, कोई पिता, कोई माता, कोई न्यायाधीश, कोई दाता, कोई सर्वशक्तिमान सत्ता। वह ऊपर है, मैं नीचे हूँ। वह पूर्ण है, मैं अधूरा हूँ। वह जानता है, मैं अज्ञानी हूँ। वह देता है, मैं माँगता हूँ।

यही द्वैत की पहली पूजा है।

और यह भी पवित्र है। क्योंकि भले ही इसमें दूरी है, पर इसमें स्मरण है। संसार में पूरी तरह सोया हुआ मनुष्य ईश्वर की बात भी नहीं करता। जो ईश्वर को बाहर मानकर पुकारता है, उसमें कम-से-कम एक दिशा खुली है। उसने स्वीकार किया कि केवल बाज़ार पर्याप्त नहीं, केवल शरीर पर्याप्त नहीं, केवल विचार पर्याप्त नहीं। उसने मान लिया कि कोई अज्ञात है, कोई गहराई है, कोई रहस्य है। यह मान लेना ही साधना का बीज है।

पर अद्वैत की दृष्टि से देखो तो प्रश्न स्वयं एक अद्‌भुत खेल है। प्रश्न पूछने वाला कौन है? "ईश्वर कौन है?" यह पूछने से पहले क्या तुमने देखा कि "मैं" कौन है जो पूछ रहा है? जो पूछ रहा है, क्या वह केवल शरीर है? शरीर तो बदलता रहा। बचपन का शरीर चला गया, युवावस्था का शरीर भी बदलता रहेगा, वृद्धावस्था आएगी और शरीर मिट्टी में लौट जाएगा। फिर भी तुम्हें एक निरंतरता का अनुभव है। तुम कहते हो, "मैं बचपन में ऐसा था।" वह बचपन का शरीर अब नहीं है, पर "मैं" कहने वाला भाव है। क्या वह मन है? मन भी प्रतिक्षण बदल रहा है। सुबह कुछ और, शाम को कुछ और। कभी प्रसन्न, कभी दुखी, कभी भक्त, कभी संदेह से भरा। विचार आते हैं, जाते हैं। भावनाएँ उठती हैं, गिरती हैं। फिर भी कुछ है जो इन सबको जानता है।

वही जानना पहला संकेत है।

तुम कहते हो, "मेरा शरीर।" तो तुम शरीर नहीं हो सकते, क्योंकि जो "मेरा" है वह "मैं" कैसे हो सकता है? तुम कहते हो, "मेरा मन बहुत बेचैन है।" तो तुम मन भी नहीं हो सकते, क्योंकि बेचैनी को जानने वाला बेचैनी नहीं है। तुम कहते हो, "मुझे प्रश्न उठ रहा है।" तो प्रश्न भी तुम नहीं हो। प्रश्न उठ रहा है, तुम उसे जान रहे हो। यह जानने वाला कौन है? यही खोज धीरे-धीरे ईश्वर की खोज को आत्मा की खोज में बदल देती है।

ईश्वर का प्रश्न जब बाहर रहता है, तो धर्म बनता है। जब भीतर मुड़ता है, तो अध्यात्म बनता है। और जब पूछने वाला स्वयं में विलीन हो जाता है, तो अद्वैत प्रकट होता है।

ईश्वर कोई वस्तु नहीं है जिसे मन पकड़ सके। पर मन की यात्रा को तुरंत नकारना भी उचित नहीं। मन बच्चे की तरह है। उसे खिलौना चाहिए, आकार चाहिए, नाम चाहिए। वह निराकार की बात सुनकर डर जाता है। इसलिए वह पूछता है, "ईश्वर कैसा दिखता है? कहाँ रहता है? क्या करता है? मेरी प्रार्थना सुनता है या नहीं?" ये प्रश्न अपरिपक्व नहीं हैं; ये मन की भाषा हैं। जैसे बच्चा माँ को रूप में जानता है। वह माँ के प्रेम को दार्शनिक रूप से नहीं समझता, वह माँ की गोद को पकड़ता है। वैसे ही साधक शुरुआत में ईश्वर को किसी रूप में पकड़ता है। यह पकड़ धीरे-धीरे प्रेम में पिघलती है, फिर प्रेम मौन में पिघलता है, फिर मौन स्वयं सत्य को प्रकट करता है।

सत्य को पाने की शुरुआत अक्सर असत्य से होती है। पर असत्य यदि ईमानदार हो, तो वही सत्य की ओर ले जाता है। ईश्वर को बाहर मानना अंतिम सत्य नहीं है, पर ईश्वर को बिल्कुल भूल जाने से यह श्रेष्ठ है। मूर्ति को ईश्वर मानना अंतिम नहीं है, पर पत्थर को केवल पत्थर मानकर हृदय को सूखा रखना उससे भी नीचे है। मूर्ति में ईश्वर नहीं है—यह कहना आधा सत्य है। मूर्ति में ईश्वर है—यह भी आधा सत्य है। पूरा सत्य यह है कि जो देखने वाला है, वही ईश्वर की उपस्थिति से सबको अर्थ देता है। बिना चेतना के पत्थर भी नहीं जाना जाता, मंदिर भी नहीं, पूजा भी नहीं, प्रश्न भी नहीं।

ईश्वर को खोजने वाला अक्सर सोचता है कि वह ईश्वर से दूर है। पर क्या दूरी सचमुच है? दूरी दो वस्तुओं के बीच होती है। तुम और ईश्वर यदि दो हो, तभी दूरी होगी। पर यदि ईश्वर ही चेतना है, यदि ईश्वर ही वह सत्ता है जिसके कारण तुम "मैं हूँ" कह सकते हो, तो उससे दूरी कैसी? क्या आँख अपनी देखने की शक्ति से दूर जा सकती है? क्या तरंग समुद्र से बाहर हो सकती है? क्या प्रकाश सूर्य से अलग होकर स्वयं को खोज सकता है?

तुम्हारा होना ही ईश्वर की पहली झलक है।

यह वाक्य समझने की वस्तु नहीं है, इसमें उतरने की वस्तु है। जब तुम केवल "मैं हूँ" में ठहरते हो, बिना नाम, बिना भूमिका, बिना कहानी, तब तुम्हें अनुभव होता है कि अस्तित्व कोई व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है। तुम अपने बल से नहीं हो। तुम हो रहे हो। साँस चल रही है, हृदय धड़क रहा है, विचार उठ रहे हैं, संवेदनाएँ आ रही हैं, जीवन घट रहा है। "मैं कर रहा हूँ" यह दावा बाद में आता है। पहले होना है। यह होना किसका है? क्या यह तुम्हारे नियंत्रण में है? तुमने स्वयं को जन्म दिया? तुम अपनी नींद में हृदय चलाते हो? तुम सूर्योदय कराते हो? तुम धरती को घुमाते हो? और फिर भी तुम इन सबके अलग नहीं हो। जिस अस्तित्व में सूरज है, उसी में तुम्हारी साँस है। जिस सत्ता से वृक्ष उगता है, उसी से तुम्हारा विचार उठता है। जिस मौन में आकाश फैला है, उसी मौन में तुम्हारा "मैं" चमकता है।

यही अद्वैत का बीज है।

पर प्रारंभ में यह बीज प्रश्न बनकर आता है। प्रश्न को दबाना नहीं। संदेह को पाप मत मानो। सच्चा संदेह श्रद्धा का विरोधी नहीं, श्रद्धा का शुद्धिकरण है। अंधविश्वास को संदेह तोड़ता है, ताकि जीवित श्रद्धा जन्म ले सके। यदि तुम्हें सचमुच जानना है कि ईश्वर कौन है, तो तुम्हें उधार के उत्तरों से संतुष्ट नहीं होना होगा। किसी ने कहा ईश्वर ऐसा है, किसी ने कहा वैसा है। कोई कहता है वह साकार है, कोई कहता है निराकार। कोई कहता है वह मंदिर में है, कोई कहता है मस्जिद में, कोई कहता है शून्य में, कोई कहता है प्रेम में। पर जब तक तुम्हारे भीतर प्रत्यक्षता नहीं आती, ये सब शब्द हैं। सुंदर शब्द, पवित्र शब्द, पर फिर भी शब्द।

शब्द द्वार दिखा सकते हैं, द्वार नहीं बन सकते। गुरु संकेत दे सकता है, चलना तुम्हें होगा। शास्त्र दिशा दे सकता है, देखना तुम्हें होगा। पूजा हृदय को नरम कर सकती है, पर जागना भीतर ही होगा। ईश्वर को जानना किसी दूसरे का अनुभव उधार लेना नहीं है। यह अपने होने की जड़ तक उतरना है। यह देखना है कि जो ईश्वर को खोज रहा है, वह स्वयं किससे बना है।

प्रश्न का जन्म तब पूर्ण होता है जब वह केवल जिज्ञासा नहीं रहता, जब वह जीवन की आग बन जाता है। जब मनुष्य कहता है, "अब मैं केवल मानकर नहीं जी सकता। अब मुझे जानना है। चाहे मेरे भ्रम टूटें, मेरी पहचानें गिरें, मेरे बनाए हुए देवता पिघलें, पर मुझे सत्य चाहिए।" यह क्षण दुर्लभ है। अधिकतर लोग धर्म को सुरक्षा की तरह चाहते हैं, सत्य की तरह नहीं। वे ईश्वर को चाहते हैं, पर अपने अहंकार को बचाकर। वे प्रार्थना करते हैं, पर बदलना नहीं चाहते। वे मुक्ति की बात करते हैं, पर अपनी कैद से प्रेम करते हैं।

सच्चा प्रश्न कैद को हिला देता है।

जब तुम सच में पूछते हो, "ईश्वर कौन है?" तब यह प्रश्न तुम्हें नहीं छोड़ेगा। वह तुम्हारे सुख में भी साथ रहेगा, तुम्हारे दुख में भी। वह तुम्हें मंदिर ले जाएगा, फिर मंदिर से भीतर ले जाएगा। वह तुम्हें मूर्ति के सामने झुकाएगा, फिर झुकने वाले को देखने कहेगा। वह तुम्हें भक्ति देगा, फिर भक्त को जला देगा। वह तुम्हें ध्यान देगा, फिर ध्यान करने वाले को भी मौन में डुबो देगा। अंत में प्रश्न ही प्रश्नकर्ता को खा जाएगा। जैसे दीपक अंधेरे को जलाता है और स्वयं भी धीरे-धीरे शांत हो जाता है, वैसे ही सच्चा प्रश्न अज्ञान को जलाता है और अंत में स्वयं मौन में विश्राम करता है।

ईश्वर का प्रश्न किसी उत्तर पर समाप्त नहीं होता। वह उत्तर में नहीं, अनुभव में पिघलता है। और वह अनुभव कोई घटना नहीं है। वह तुम्हारी अपनी उपस्थिति की पहचान है। अभी, इसी क्षण, जो इन शब्दों को सुन रहा है, जो अर्थ बना रहा है, जो सहमत या असहमत हो रहा है, जो भीतर कहीं हल्की-सी खिंचाव महसूस कर रहा है—वह कौन है? उसी को देखना प्रारंभ है। उसी में लौटना साधना है। उसी में मिटना मुक्ति है।

ईश्वर को खोजने से पहले यह देखो कि खोज कहाँ से उठ रही है।

प्रश्न बाहर नहीं जन्मता। संसार केवल अवसर देता है। प्रश्न भीतर की गहराई से उठता है, क्योंकि सत्य स्वयं तुम्हें अपनी ओर बुला रहा होता है। जैसे समुद्र की नमी बादल बनती है और फिर वर्षा बनकर समुद्र की ओर लौटती है, वैसे ही चेतना में एक प्रश्न उठता है और चेतना की ओर ही लौटता है। साधक सोचता है कि वह ईश्वर को खोज रहा है। पर गहराई से देखो तो ईश्वर ही अपने को अपने भीतर खोज रहा है।

यहीं से यात्रा शुरू होती है। यह यात्रा रूप से शुरू होगी, क्योंकि मन रूप को समझता है। यह भक्ति से गुज़रेगी, क्योंकि हृदय प्रेम से पिघलता है। यह मन और माया को देखेगी, क्योंकि भ्रम को जाने बिना भ्रम से मुक्ति नहीं। यह साक्षी में ठहरेगी, फिर साक्षी से भी आगे जाएगी। और अंत में जहाँ ईश्वर शब्द भी गिर जाएगा, वहाँ केवल यह रह जाएगा—जो है। वही तुम हो। वही मैं हूँ। वही सब है।

अभी केवल इतना जानो कि प्रश्न पवित्र है। उसे हल्का मत लेना। यह तुम्हारे भीतर ईश्वर का पहला स्पर्श है। जब संसार पर्याप्त नहीं रह जाता, तब सत्य पुकारता है। और जब सत्य पुकारता है, तब जीवन की पुरानी दिशा बदलने लगती है। बाहर से सब वैसा ही दिखेगा, पर भीतर कोई दरवाज़ा खुल चुका होगा।

अभ्यास

आज कुछ देर शांत बैठो और केवल यह पूछो, "मैं ईश्वर को क्यों खोज रहा हूँ?"
उत्तर मत बनाओ।
प्रश्न को भीतर उतरने दो।
जो भी भाव उठे, उसे देखो।
देखने वाले को पहचानने की शुरुआत यहीं है।

Chapter 2 — स्वरूप: जब ईश्वर को रूप दिया

जब मनुष्य ने पहली बार आकाश की ओर देखा होगा, वह चकित हुआ होगा। बिजली चमकी होगी, वर्षा बरसी होगी, सूर्य उगा होगा, रात ने तारों की अनगिनत आँखें खोल दी होंगी। जीवन उसके लिए रहस्य था। जन्म रहस्य था, मृत्यु रहस्य थी, प्रेम रहस्य था, भय रहस्य था। वह अकेला था, असुरक्षित था, पर भीतर कहीं एक गहरी संवेदना थी कि यह सब अराजक नहीं है। इस विराट के पीछे कोई शक्ति है, कोई व्यवस्था है, कोई करुणा है, कोई अदृश्य हाथ है। और तब मनुष्य ने उस अदृश्य को रूप दिया।

रूप देना मन की भाषा है। मन खाली आकाश से प्रेम करना नहीं जानता। उसे चेहरा चाहिए, आँखें चाहिए, नाम चाहिए, कथा चाहिए। इसीलिए मनुष्य ने ईश्वर को माता कहा, पिता कहा, मित्र कहा, स्वामी कहा, बालक कहा, प्रियतम कहा। उसने वृक्षों में देवता देखे, नदियों में माता देखी, पर्वतों में तपस्वी देखा, अग्नि में शुद्धि देखी, सूर्य में प्रकाश का देवता देखा, चंद्रमा में शीतलता का स्वरूप देखा। उसने मूर्तियाँ बनाईं, मंत्र रचे, आरतियाँ गाईं। उसने पत्थर में प्राण प्रतिष्ठित किए, क्योंकि उसके भीतर की श्रद्धा पत्थर को भी जीवित कर सकती थी।

यह समझना बहुत आवश्यक है कि रूप झूठ नहीं है। रूप अंतिम सत्य नहीं है, पर रूप असत्य भी नहीं है। अद्वैत रूप को नकारता नहीं, केवल उसकी सीमा दिखाता है। यदि तुम कहते हो कि केवल निराकार ही सत्य है और रूप व्यर्थ है, तो तुम जीवन की आधी लीला को काट देते हो। फूल का रूप है, क्या वह सत्य से बाहर है? तुम्हारे शरीर का रूप है, क्या वह ब्रह्म से अलग है? नदी बहती है, बादल चलते हैं, आँखें देखती हैं, मुस्कान खिलती है—क्या यह सब माया कहकर फेंक देने योग्य है? नहीं। माया का अर्थ यह नहीं कि संसार अस्तित्वहीन है। माया का अर्थ है—जो जैसा दिखता है, वैसा अंतिम रूप से नहीं है। रूप है, पर स्वतंत्र नहीं है। रूप उठता है, टिकता है, मिटता है। पर जिस सत्ता में रूप आता-जाता है, वह अचल है।

रूप लहर है। अरूप समुद्र है।

जब ईश्वर को रूप दिया गया, तब मनुष्य ने अपने ही हृदय की गहराई को सामने रख दिया। राम में मर्यादा देखी गई, कृष्ण में लीला, शिव में मौन और संहार, देवी में शक्ति और करुणा, बुद्ध में जागरण, महावीर में निर्भय विरक्ति, यीशु में प्रेम और क्षमा। ये सब केवल ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र नहीं हैं। ये मानव-चेतना के दर्पण हैं। मनुष्य ने अपने भीतर की संभावनाओं को देवताओं के रूप में देखा। उसने कहा, "मैं अभी सीमित हूँ, पर पूर्णता ऐसी होगी।" यह पूजा थी, पर साथ ही स्मरण भी था। देवता बाहर खड़े आदर्श नहीं थे; वे भीतर सुप्त आयाम थे।

पर मन ने धीरे-धीरे रूप को साधन नहीं, सत्य मान लिया। मूर्ति का काम था भीतर भाव जगाना, पर मन मूर्ति पर ही रुक गया। नाम का काम था नामहीन की ओर संकेत करना, पर मन नाम में ही बँध गया। मंदिर का काम था हृदय को पवित्र करना, पर मन पत्थर की इमारत को ही अंतिम मान बैठा। यहीं धर्म जीवित अनुभव से संस्था बनता है। जहाँ प्रेम होना था, वहाँ भय आ गया। जहाँ समर्पण होना था, वहाँ लेन-देन आ गया। जहाँ मौन होना था, वहाँ शोर आ गया। मन ने ईश्वर को भी संसार की तरह बना लिया—प्रसन्न करने योग्य, रिश्वत देने योग्य, दंड देने वाला, पक्षपात करने वाला।

मन जिसको छूता है, उसे अपने जैसा बना देता है।

इसलिए अद्वैत पूछता है—जिस ईश्वर को तुम पूज रहे हो, वह क्या तुम्हारे भय का विस्तार है या सत्य का द्वार? यदि तुम ईश्वर से डरते हो, तो तुम अभी अपने ही मन की छाया के सामने खड़े हो। यदि तुम ईश्वर से सौदा करते हो, तो तुम अभी बाज़ार को मंदिर में ले आए हो। यदि तुम कहते हो, "मैंने इतना दिया, अब ईश्वर मुझे इतना दे," तो तुमने दैवी को व्यापार बना दिया। पर यदि तुम ईश्वर के सामने खड़े होकर भीतर पिघलते हो, यदि तुम्हारे अहंकार की कठोरता नरम होती है, यदि तुम्हारे भीतर करुणा, सत्य, विनम्रता और जागरण की आकांक्षा उठती है, तो रूप अपना काम कर रहा है।

रूप का उद्देश्य रूप में बंद करना नहीं, रूप के पार ले जाना है।

मूर्ति को देखो। वह बाहर स्थिर है। उसके सामने तुम्हारा मन धीरे-धीरे स्थिर होता है। दीपक जलता है। उसकी लौ तुम्हें भीतर की ज्योति याद दिलाती है। घंटी बजती है। उसका नाद तुम्हें विचारों के शोर से बाहर लाता है। धूप की सुगंध उठती है। वह तुम्हें सूक्ष्मता का स्पर्श देती है। चरणों में झुकते हो। तुम्हारा अहंकार कुछ क्षण के लिए नीचे आता है। यदि यह सब सचेतन हो, तो पूजा ध्यान बन जाती है। यदि यह सब यांत्रिक हो, तो पूजा केवल आदत बन जाती है।

ईश्वर का स्वरूप साधक की अवस्था के अनुसार बदलता है। बच्चे को ईश्वर माता-पिता जैसा चाहिए। दुखी को ईश्वर सहारा चाहिए। भयभीत को ईश्वर रक्षक चाहिए। प्रेमी को ईश्वर प्रियतम चाहिए। ज्ञानी को ईश्वर सत्य चाहिए। और जो पूर्ण रूप से जागता है, उसके लिए ईश्वर और स्वयं में कोई दूरी नहीं बचती। इसलिए किसी की पूजा को जल्दी मत तोड़ो। हर हृदय अपनी सीढ़ी पर है। कोई मंदिर से शुरू करता है, कोई मंत्र से, कोई ध्यान से, कोई सेवा से, कोई प्रश्न से। पर जहाँ भी शुरुआत हो, यदि ईमानदारी है, तो वह भीतर ले जाएगी।

रूप साधक के लिए नाव है। नाव को सिर पर ढोना मूर्खता है, पर नदी पार करने से पहले नाव को नकारना भी मूर्खता है।

कई लोग निराकार की बात सुनकर रूप की निंदा करने लगते हैं। वे कहते हैं, "मूर्ति पूजा अज्ञान है।" पर क्या उनके भीतर रूप का अतिक्रमण हुआ है, या केवल विचार बदल गया है? यदि हृदय अभी भी कठोर है, यदि अहंकार अभी भी जीवित है, यदि करुणा नहीं आई, यदि मौन नहीं उतरा, तो निराकार की भाषा भी नया अहंकार बन सकती है। मन कहता है, "मैं तो उच्च हूँ, मैं तो निराकार को मानता हूँ।" यह भी एक रूप है—ज्ञान का रूप, श्रेष्ठता का रूप। इसलिए सावधान रहो। अद्वैत का अर्थ रूप-विरोध नहीं है। अद्वैत का अर्थ है—रूप में भी वही, अरूप में भी वही। मंदिर में भी वही, बाज़ार में भी वही। मूर्ति में भी वही, मूर्ति देखने वाले में भी वही। पूजा में भी वही, पूजा के बाद उठती शांति में भी वही।

सच्चा अद्वैत किसी चीज़ को बाहर नहीं रखता।

जब तुम ईश्वर को किसी रूप में देखते हो, तो दो बातें साथ रखो। पहली, यह रूप मेरे हृदय को खोलने का साधन है। दूसरी, ईश्वर इस रूप तक सीमित नहीं है। जैसे खिड़की से आकाश दिखाई देता है, पर आकाश खिड़की में बंद नहीं होता। वैसे ही मूर्ति से ईश्वर की झलक मिल सकती है, पर ईश्वर मूर्ति में कैद नहीं होता। यदि तुम खिड़की को ही आकाश मान लोगे, तो संकीर्णता जन्म लेगी। यदि तुम खिड़की को तोड़ दोगे और बाहर देखना भी छोड़ दोगे, तो सूखापन जन्म लेगा। खिड़की का उपयोग करो, आकाश को पहचानो।

रूप का सबसे बड़ा वरदान यह है कि वह प्रेम को संभव बनाता है। निराकार की बात मन को सूक्ष्म लग सकती है, पर हृदय को प्रेम करने के लिए कोई केंद्र चाहिए। इसलिए भक्त कृष्ण की बाँसुरी सुनता है, राम के चरण पकड़ता है, शिव की जटाओं में गंगा देखता है, माँ काली की गोद में रोता है। यह सब अद्वैत से विरोधी नहीं है। भक्ति अद्वैत की शत्रु नहीं, उसका मधुर द्वार है। जब प्रेम गहरा होता है, तो प्रेमी और प्रिय में दूरी कहाँ बचती है? शुरुआत में भक्त कहता है, "हे प्रभु, मैं तेरा हूँ।" फिर कहता है, "तू मेरा है।" फिर एक दिन कहता भी नहीं—केवल मौन रह जाता है। वहाँ भक्त कहाँ है, भगवान कहाँ है? केवल प्रेम है। और प्रेम जब पूर्ण हो जाता है, तो अद्वैत का ही दूसरा नाम है।

जो रूप प्रेम में पिघलता है, वही अरूप का द्वार बनता है।

पर जो रूप भय में जम जाता है, वह बंधन बन जाता है। इसलिए देखो कि तुम्हारी पूजा तुम्हें मुक्त कर रही है या बाँध रही है। क्या तुम्हारा ईश्वर तुम्हें अधिक जीवित, अधिक सत्यवान, अधिक करुणामय बना रहा है? या तुम्हें संकीर्ण, डरा हुआ, दूसरों से द्वेष करने वाला बना रहा है? यदि तुम्हारा ईश्वर दूसरों के ईश्वर से लड़ता है, तो वह ईश्वर नहीं, तुम्हारे मन की सीमा है। सत्य का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं होता। प्रकाश अंधकार से लड़ता नहीं; केवल उपस्थित होता है। जो ईश्वर सचमुच तुम्हारे भीतर जागेगा, वह तुम्हें सबमें उसी की झलक दिखाएगा। वह तुम्हें किसी एक नाम से प्रेम करना सिखाएगा, पर सभी नामों के पार भी ले जाएगा।

ईश्वर का रूप संस्कृति के अनुसार बदलता है, पर ईश्वर की उपस्थिति नहीं बदलती। कोई उसे अल्लाह कहता है, कोई ब्रह्म कहता है, कोई परमात्मा, कोई ताओ, कोई शून्य, कोई प्रेम। शब्द अलग हैं, इशारा एक है। समस्या शब्दों में नहीं, पकड़ में है। जब शब्द संकेत है, वह पवित्र है। जब शब्द दीवार है, वह विभाजन है। इसलिए रूप को सम्मान दो, पर रूप में कैद मत हो। नाम लो, पर नाम के पार सुनो। पूजा करो, पर पूजा करने वाले को भी देखो।

तुम जब किसी देवता के सामने खड़े होते हो, तो सच में तुम अपने ही भीतर की संभावना के सामने खड़े होते हो। यदि तुम शिव को देखते हो, तो वह तुम्हारे भीतर के मौन का आह्वान है। यदि तुम कृष्ण को देखते हो, तो वह तुम्हारे भीतर की सहज लीला का आह्वान है। यदि तुम माँ को देखते हो, तो वह तुम्हारी करुणा और शक्ति का आह्वान है। देवता तुम्हें छोटा रखने नहीं आए। वे तुम्हें तुम्हारे ही विराट स्वरूप की याद दिलाने आए हैं। यदि पूजा के बाद भी तुम स्वयं को असहाय, पापी, अलग और अधूरा ही मानते रहे, तो तुमने देवता को समझा नहीं। ईश्वर को पूजने का अर्थ स्वयं को मिट्टी समझना नहीं; झूठे अहंकार को छोड़कर अपने सत्य को पहचानना है।

विनम्रता आत्म-अपमान नहीं है। विनम्रता सत्य के सामने अहंकार का झुकना है।

रूप की यात्रा में सबसे बड़ा खतरा है आदत। मन वही मंत्र जपता रहता है, पर सुनता नहीं। हाथ दीपक घुमाते हैं, पर हृदय नहीं जलता। माथा झुकता है, पर अहंकार भीतर सीधा खड़ा रहता है। होठ प्रार्थना बोलते हैं, पर भीतर व्यापार चलता है। ऐसी पूजा मन को सांत्वना दे सकती है, परिवर्तन नहीं। इसलिए जब भी पूजा करो, एक क्षण ठहरो। देखो—मैं किसके सामने खड़ा हूँ? क्या मैं सचमुच खुल रहा हूँ? क्या मैं कुछ माँगने आया हूँ या स्वयं को समर्पित करने? क्या मैं ईश्वर को अपने जीवन की योजना में फिट करना चाहता हूँ, या अपने जीवन को सत्य के सामने खोलना चाहता हूँ?

साधना वहीं शुरू होती है जहाँ ईश्वर तुम्हारी इच्छा पूरी करने का साधन नहीं रहता, बल्कि तुम्हारे भ्रम तोड़ने का प्रकाश बनता है।

ईश्वर को रूप देना बचपन की तरह है। सुंदर, आवश्यक, कोमल। पर बच्चे को बड़ा भी होना है। बचपन को गाली देकर नहीं, उसे पूर्ण जीकर। जैसे बच्चा माँ की उँगली पकड़कर चलना सीखता है, फिर एक दिन स्वयं चलने लगता है। वह माँ को छोड़ता नहीं, माँ उसके भीतर आत्मविश्वास बनकर रह जाती है। वैसे ही साधक रूप से शुरू करता है। मूर्ति, मंत्र, कथा, आरती—ये सब उसका हाथ पकड़ते हैं। फिर एक दिन वही रूप भीतर प्रवेश कर जाता है। मंदिर बाहर नहीं, हृदय में खुलता है। मूर्ति बाहर नहीं, चेतना में चमकती है। आरती बाहर नहीं, हर साँस में जलती है। तब रूप अपने उद्देश्य को पूरा करता है।

और तब साधक धीरे-धीरे देखता है कि ईश्वर केवल वह नहीं जिसे मैंने बनाया था। वह बनता भी है, बिगड़ता भी है, जन्मता भी है, मरता भी है, हँसता भी है, रोता भी है। वह इस शरीर में भी है, उस अजनबी में भी, उस शत्रु में भी, उस वृक्ष में भी। फिर रूप एक से अनेक हो जाता है। और अनेक से धीरे-धीरे वह उस एक में लौटता है जो किसी रूप में सीमित नहीं।

रूप से अरूप की यात्रा रूप का त्याग नहीं, रूप की परिपूर्ण समझ है।

जब तक तुम रूप में ईश्वर को नहीं देख सकते, अरूप की बात सूखी रहेगी। और जब तक तुम अरूप को नहीं पहचानते, रूप में बंधन रहेगा। इसलिए दोनों को साथ समझो। देवता को प्रणाम करो, पर जानो कि प्रणाम करने वाली चेतना भी उसी की है। मंत्र जपो, पर जानो कि मंत्र जिस मौन से उठता है, वही अंतिम है। मंदिर जाओ, पर लौटकर हर क्षण को मंदिर बनाओ। ईश्वर को फूल चढ़ाओ, पर अपने अहंकार का काँटा भी रख दो। यही रूप की सच्ची साधना है।

एक दिन ऐसा आएगा जब तुम मूर्ति के सामने खड़े होकर अचानक देखोगे—जो सामने है वह भी मैं नहीं, जो झुक रहा है वह भी मैं नहीं, जो देख रहा है वह भी किसी व्यक्ति का "मैं" नहीं। सबमें एक ही उपस्थिति है। उस क्षण आँखें खुली रहें या बंद, मंदिर हो या जंगल, नाम हो या मौन—सब एक ही रस से भर जाता है। तब रूप गिरता नहीं, पारदर्शी हो जाता है। उसके आर-पार अरूप चमकता है।

अभ्यास

आज किसी भी प्रिय रूप, मूर्ति, चित्र या नाम के सामने शांत बैठो।
कुछ माँगो मत।
केवल देखो कि उस रूप से तुम्हारे भीतर कौन-सा भाव जागता है।
फिर आँखें बंद करके उसी भाव को अपने हृदय में अनुभव करो।
रूप को भीतर उतरने दो।

Chapter 3 — भक्ति की आग

ज्ञान मन को स्पष्ट करता है, पर भक्ति हृदय को पिघलाती है। और जब तक हृदय नहीं पिघलता, सत्य केवल विचार बना रहता है। बहुत लोग अद्वैत की बातें करते हैं। वे कहते हैं, "सब ब्रह्म है, मैं आत्मा हूँ, जगत माया है।" पर उनके भीतर कठोरता बनी रहती है। वाणी में ज्ञान, जीवन में सूखापन। शब्द ऊँचे, दृष्टि छोटी। ऐसा ज्ञान अभी बुद्धि का खेल है। भक्ति इस खेल को जला देती है। भक्ति पूछती है—तुम जिस सत्य की बात कर रहे हो, क्या तुमने उसके सामने अपने को रखा भी है? क्या तुम्हारा अहंकार रोया है? क्या तुम्हारी आँखों से वह जल बहा है जो भीतर की दीवारों को धो देता है?

भक्ति की आग में भक्त जलता है, भगवान नहीं।

साधक जब ईश्वर को रूप देता है, तब उसके भीतर प्रेम का जन्म होता है। वह किसी देवता को पुकारता है, किसी नाम में डूबता है, किसी गीत में खो जाता है। उसे लगता है, "वह है और मैं हूँ। मैं छोटा हूँ, वह विशाल है। मैं अधूरा हूँ, वह पूर्ण है। मैं बिखरा हूँ, वह मेरा आश्रय है।" यह द्वैत है, पर पवित्र द्वैत। क्योंकि इसमें अहंकार अपनी सत्ता खोने लगता है। संसार में अहंकार हमेशा बड़ा होना चाहता है। भक्ति में वह छोटे होने का आनंद सीखता है। संसार में वह नियंत्रण चाहता है। भक्ति में वह समर्पण सीखता है। संसार में वह कहता है, "मैं करता हूँ।" भक्ति में वह कहता है, "तू करा रहा है।"

यह "तू" धीरे-धीरे "मैं" को खा जाता है।

भक्ति का आरंभ माँग से हो सकता है। कोई दुखी है, वह प्रार्थना करता है। कोई भयभीत है, वह रक्षा माँगता है। कोई इच्छा से भरा है, वह कृपा चाहता है। यह स्वाभाविक है। मनुष्य जहाँ है, वहीं से शुरू करेगा। पर यदि भक्ति जीवित है, तो वह माँग से आगे जाएगी। पहले भक्त कहता है, "मुझे यह दे दो।" फिर कहता है, "मुझे सहारा दो।" फिर कहता है, "मुझे तुम्हारा प्रेम दो।" फिर कहता है, "मुझे तुम ही चाहिए।" और अंत में कहता है, "मुझे भी मत रहने दो।" यही भक्ति की परिपक्वता है। जहाँ तक माँग है, वहाँ तक भक्त बचा हुआ है। जहाँ केवल समर्पण है, वहाँ भक्त भी पिघलने लगता है।

तुमने देखा होगा, प्रेम में मनुष्य बदल जाता है। जिसे वह प्रेम करता है, उसके सामने वह उतना कठोर नहीं रह पाता। वह सुनता है, प्रतीक्षा करता है, याद करता है, रोता है, हँसता है। प्रेम उसे अपने छोटे संसार से बाहर लाता है। सांसारिक प्रेम भी यह कर सकता है, पर उसमें आसक्ति, अपेक्षा और भय मिल जाते हैं। दैवी प्रेम में भी शुरुआत में ये सब रहते हैं, पर धीरे-धीरे जलते हैं। भक्त पहले ईश्वर को पकड़ना चाहता है। फिर एक दिन समझता है कि प्रेम पकड़ नहीं, खुलना है। यदि मैं ईश्वर को अपनी इच्छा के अनुसार बाँधना चाहता हूँ, तो मैं ईश्वर से प्रेम नहीं कर रहा, मैं अपने भय से प्रेम कर रहा हूँ।

भक्ति में सबसे बड़ा परिवर्तन तब आता है जब भक्त शिकायत से धन्यवाद की ओर बढ़ता है। पहले वह कहता है, "हे प्रभु, मेरे साथ ऐसा क्यों?" फिर धीरे-धीरे देखता है कि जीवन की हर घटना उसे तोड़ भी रही है और खोल भी रही है। दुख केवल दंड नहीं था; वह अहंकार की दीवारों पर चोट था।

हानि केवल दुर्भाग्य नहीं थी; वह पकड़ ढीली करने का निमंत्रण थी। अकेलापन केवल कमी नहीं था; वह भीतर लौटने का अवसर था। जब यह समझ आती है, तब भक्ति गहरी होती है। तब भक्त जीवन से लड़ना कम करता है, जीवन को सुनना शुरू करता है।

जो कुछ घट रहा है, वह तुम्हारे विरुद्ध नहीं; वह तुम्हें जगाने की दिशा में भी हो सकता है।

पर यह वाक्य केवल सांत्वना नहीं बनना चाहिए। जीवन में पीड़ा सचमुच होती है। भक्ति पीड़ा को झुठलाती नहीं। वह रोने को भी पवित्र बनाती है। भक्त रोता है, पर रोने में भी एक द्वार खुलता है। वह कहता है, "मैं नहीं जानता। तू जानता है।" यह वाक्य बुद्धि की हार नहीं, अहंकार की नरमी है। बुद्धि योजना बनाती है, नियंत्रण चाहती है, परिणाम चाहती है। भक्ति जीवन के विराट रहस्य के आगे झुकती है। वह कहती है, "मेरी दृष्टि छोटी है। जो मैं हानि समझता हूँ, वह शायद किसी गहरे सत्य का मार्ग हो।" यह विश्वास अंधापन नहीं है यदि उसके साथ जागरूकता हो। यह समर्पण भागना नहीं है यदि उसके साथ सत्यनिष्ठा हो।

भक्ति और अद्वैत का संबंध बहुत सूक्ष्म है। अद्वैत कहता है, "तुम और ईश्वर दो नहीं हो।" भक्ति कहती है, "जब तक मैं दो अनुभव कर रहा हूँ, मैं प्रेम करूँगा, पुकारूँगा, समर्पित होऊँगा।" अद्वैत शिखर है, भक्ति चढ़ाई की गर्मी है। बिना भक्ति के अद्वैत कभी-कभी ठंडा विचार बन जाता है। बिना अद्वैत के भक्ति कभी-कभी अंधी आसक्ति बन जाती है। जब दोनों मिलते हैं, तब प्रेम ज्ञान बनता है और ज्ञान प्रेम। तब भक्त भगवान से अलग होकर प्रेम नहीं करता; वह जानता है कि वही चेतना इस पुकार में भी है और उस मौन में भी जिसे वह पुकार रहा है।

प्रेम की अंतिम परिणति अद्वैत है।

जब मीरा कहती है कि गिरधर ही सब हैं, तो यह केवल भावना नहीं है। यह अस्तित्व की दिशा है। जब कबीर कहते हैं कि बूंद समानी समुद्र में, तो यह ज्ञान है, पर उसमें भक्ति की आग भी है। जब रामकृष्ण माँ को पुकारते-पुकारते समाधि में डूब जाते हैं, तो वहाँ रूप भी है और अरूप भी। भक्ति का हृदय जब पूर्ण पिघलता है, तो भक्त और भगवान की सीमा टिक नहीं सकती। प्रेम में दो की शुरुआत होती है, पर एक का अंत प्रकट होता है।

लेकिन इस मार्ग में सावधानी चाहिए। भक्ति को भावुकता समझ लेना आसान है। आँसू आ गए, गीत गा लिया, रोमांच हुआ—यह सब सुंदर हो सकता है, पर यह अंतिम नहीं है। भावनाएँ आती-जाती हैं। आज भक्ति की लहर है, कल सूखापन है। यदि साधक भावों पर निर्भर रहा, तो वह स्थिर नहीं होगा। सच्ची भक्ति भाव से शुरू होकर भाव से पार जाती है। वह केवल रस नहीं खोजती; वह सत्य को चाहती है। वह ईश्वर से सुख नहीं, ईश्वर को चाहती है। और जब ईश्वर को चाहना पूर्ण हो जाता है, तब चाहने वाला भी मिटता है।

भक्ति का सबसे गहरा रूप है अहंकार का समर्पण। यह समर्पण किसी बाहरी सत्ता के सामने दासता नहीं है। यह झूठे "मैं" की पकड़ छोड़ना है। तुम कहते हो, "मेरी इच्छा।" भक्ति पूछती है, "यह 'मेरी' कौन है?" तुम कहते हो, "मेरा जीवन।" भक्ति पूछती है, "तुमने जीवन बनाया कब?" तुम कहते हो, "मेरी सफलता, मेरा अपमान, मेरा मार्ग, मेरी साधना।" भक्ति मुस्कुराती है और धीरे-धीरे सब "मेरा" को अग्नि में डाल देती है। यह अग्नि दर्द देती है, क्योंकि अहंकार जलता है। पर इसी जलने से सुगंध उठती है।

जिसे तुम खोना समझते हो, भक्ति उसे शुद्धि कहती है।

कई बार भक्त को लगता है कि ईश्वर दूर हो गया। पहले ध्यान में रस था, अब नहीं। पहले नाम जपते ही आँसू आते थे, अब सूखापन है। पहले मंदिर में शांति मिलती थी, अब खालीपन है। यह भक्ति का पतन नहीं भी हो सकता; यह भक्ति की गहराई भी हो सकती है। शुरुआत में ईश्वर मिठास देता है ताकि साधक आकर्षित हो। फिर वह मिठास छीनता है ताकि साधक मिठास का नहीं, सत्य का प्रेमी बने। यदि तुम केवल आनंद के लिए ईश्वर को चाहते हो, तो आनंद न मिलने पर हट जाओगे। यदि तुम सत्य के लिए ईश्वर को चाहते हो, तो सूखेपन में भी ठहरोगे। यही परीक्षा है।

भक्ति की आग सुखद भी है और कठोर भी। वह तुम्हें सहलाती है, फिर काटती है। वह तुम्हें गोद में लेती है, फिर तुम्हारे नकली सहारों को तोड़ती है। वह तुम्हें गीत देती है, फिर मौन में बैठाती है। वह तुम्हें देवता देती है, फिर देवता के पीछे छिपे अरूप में धकेलती है। यदि तुम सच में भक्ति में उतरते हो, तो एक दिन तुम देखोगे कि जिसे तुम बाहर पुकार रहे थे, वह भीतर की उपस्थिति ही थी। तुम्हारी पुकार उसी से उठ रही थी। तुम्हारे आँसू उसी के थे। तुम्हारा समर्पण भी उसी की लीला था।

ईश्वर को प्रेम करना अंत में अपने सत्य को प्रेम करना है—पर यह आत्म-प्रेम अहंकार का नहीं, आत्मा का है।

संसार में प्रेम अक्सर कहता है, "तुम मेरे हो।" भक्ति कहती है, "मैं तेरा हूँ।" अद्वैत कहता है, "न तू, न मैं; केवल प्रेम।" यह क्रम धीरे-धीरे खुलता है। साधक को जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि भीतर अभी "तू" की पुकार है, तो उसे जीवित रखो। नाम जपो, गाओ, रोओ, नाचो, मौन बैठो। पर साथ-साथ जागते रहो। देखो कि क्या इस प्रेम में पकड़ है? क्या इसमें अपेक्षा है? क्या इसमें भय है? क्या मैं ईश्वर से भी अपनी कहानी की पुष्टि चाहता हूँ? यदि हाँ, तो उसे भी ईश्वर के चरणों में रख दो।

सच्चा चरण बाहर नहीं, भीतर का वह स्थान है जहाँ अहंकार झुकता है।

जब तुम कहो, "हे प्रभु, मुझे अपने सत्य में ले चल," तो सच में तैयार रहना। क्योंकि सत्य तुम्हारे भ्रमों को बचाएगा नहीं। वह तुम्हें वह नहीं देगा जो तुम हमेशा चाहते आए हो; वह तुम्हें वह दिखाएगा जो तुम सच में हो। कभी यह दया की तरह आएगा, कभी वज्र की तरह। कभी किसी व्यक्ति के प्रेम से, कभी किसी व्यक्ति के चले जाने से। कभी उपलब्धि से, कभी असफलता से। भक्त धीरे-धीरे हर घटना में उसी का हाथ देखने लगता है। यह देखना कल्पना नहीं, संवेदनशीलता है। वह जानता है कि जीवन केवल बाहरी घटनाओं का क्रम नहीं; यह भीतर जागरण का रहस्य भी है।

भक्ति तब परिपक्व होती है जब पूजा जीवन बन जाती है। केवल मंदिर में नहीं, हर संबंध में। यदि तुम ईश्वर की मूर्ति के सामने झुकते हो, पर मनुष्य को अपमानित करते हो, तो भक्ति अधूरी है। यदि तुम नाम जपते हो, पर अपने शब्दों से दूसरों को चोट पहुँचाते हो, तो नाम अभी गले से नीचे नहीं उतरा। यदि तुम ईश्वर को फूल चढ़ाते हो, पर भीतर क्रोध और लोभ को पोषित करते हो, तो फूल बाहर रह गया। भक्ति का अर्थ है जीवन की हर जगह को पवित्र देखना। भोजन बनाना भी पूजा, किसी को सुनना भी पूजा, सत्य बोलना भी पूजा, मौन रहना भी पूजा। जब जीवन पूजा बनता है, तब ईश्वर किसी एक कोने में बंद नहीं रहता।

पर भक्ति का अंतिम विस्फोट तब है जब भक्त स्वयं को भी अर्पित कर देता है। वह कहता है, "मेरे पास देने को कुछ नहीं, क्योंकि सब तेरा ही है। यह शरीर, यह मन, यह साँस, यह प्रेम, यह प्रश्न—सब तेरा। अब मैं भी तेरा।" और जब यह पूर्णता से घटता है, तब "मैं तेरा" भी मिट जाता है। केवल होना बचता है। वही अद्वैत है। वहाँ भक्ति समाप्त नहीं होती; वह रूप बदल लेती है। अब कोई पुकारता नहीं, पर हर साँस आरती है। कोई झुकता नहीं, पर पूरा अस्तित्व प्रणाम है। कोई कहता नहीं "ईश्वर," पर सब उसी का संगीत है।

भक्ति की आग में जलकर जो बचता है, वही सत्य है।

अभ्यास

आज अपने प्रिय नाम या मंत्र को बहुत धीरे-धीरे जपो।
हर जप के साथ अनुभव करो कि अहंकार थोड़ा नरम हो रहा है।
कुछ माँगो मत।
केवल इतना कहो, "जो सत्य है, वही प्रकट हो।"
फिर कुछ क्षण मौन में बैठो।

Chapter 4 — मन और माया

ईश्वर की खोज में सबसे बड़ा जंगल बाहर नहीं, भीतर है। उसका नाम है मन। मन ही प्रश्न पूछता है, मन ही उत्तर बनाता है, मन ही भ्रम रचता है, मन ही मार्ग भी खोजता है। मन के बिना संसार का अनुभव नहीं होता, पर मन के कारण संसार वैसा नहीं दिखता जैसा है। मन रंग देता है, नाम देता है, अर्थ देता है, तुलना करता है, पकड़ता है, डरता है, आशा करता है। जो सामने है, उसे वह सीधे नहीं देखता; अपने पुराने अनुभवों, इच्छाओं और भय के धुएँ से देखता है। यही माया की शुरुआत है।

माया का अर्थ केवल यह नहीं कि संसार झूठ है। यह बहुत अधूरी समझ है। यदि संसार बिल्कुल झूठ होता, तो अनुभव कैसे होता? पीड़ा कैसे महसूस होती? प्रेम कैसे खिलता? शरीर भूख कैसे जानता? आग जलाती कैसे? इसलिए माया को अस्तित्वहीन कहना बुद्धि की जल्दबाज़ी है। माया का अर्थ है —अस्थायी को स्थायी समझना, नाम-रूप को अंतिम मानना, परिवर्तनशील को "मैं" और "मेरा" कहना। माया वह शक्ति है जो एक ही सत्य को अनेक रूपों में दिखाती है, और फिर मन उन रूपों में खो जाता है।

रस्सी अंधेरे में साँप दिखाई देती है। रस्सी है, पर साँप का भय मन ने बनाया। संसार रस्सी की तरह है; तुम्हारी धारणाएँ साँप की तरह।

मन की पहली माया है पहचान। शरीर मिला, नाम मिला, परिवार मिला, समाज मिला, स्मृतियाँ मिलीं—और मन ने कहा, "यही मैं हूँ।" यह कहना इतना गहरा हो गया कि मनुष्य कभी इसकी जाँच ही नहीं करता। वह अपने नाम पर गर्व करता है, अपने रूप पर दुःख करता है, अपने विचारों को अपना सत्य मानता है, अपनी कहानी की रक्षा में जीवन लगा देता है। पर नाम जन्म के बाद दिया गया। शरीर हर क्षण बदल रहा है। विचार परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। कहानी स्मृतियों का चयन है। फिर "मैं" कहाँ है? मन इस प्रश्न से डरता है, क्योंकि यदि पहचान हिल गई, तो उसका पूरा साम्राज्य हिल जाएगा।

मन को स्थिरता चाहिए, इसलिए वह अस्थायी चीज़ों में स्थिरता खोजता है। संबंध स्थायी हो जाएँ, धन स्थायी हो जाए, शरीर युवा रहे, सम्मान कभी न घटे, सुख हमेशा रहे। पर जीवन का नियम परिवर्तन है। जो आया है, जाएगा। जो बना है, टूटेगा। जो मिला है, छूटेगा। मन इस नियम से लड़ता है और दुख पैदा करता है। माया केवल बाहर नहीं; माया मन की उस अपेक्षा में है कि परिवर्तनशील संसार मेरी इच्छाओं के अनुसार स्थायी हो जाए।

दुख वस्तुओं के बदलने से कम, उन्हें न बदलने की माँग से अधिक जन्मता है।

मन दूसरा जाल बनाता है—सुख की खोज। वह कहता है, "जब यह मिलेगा, तब मैं पूर्ण हो जाऊँगा।" बचपन में खिलौना, युवावस्था में प्रेम, फिर धन, फिर सफलता, फिर सम्मान, फिर आध्यात्मिक अनुभव। वस्तु बदलती रहती है, पर मन का वादा वही रहता है। "बस यह मिल जाए।" और हर बार मिल जाने के बाद कुछ क्षण सुख आता है, फिर खालीपन लौट आता है। मन फिर नया लक्ष्य बना देता है। यह चक्र इतना सूक्ष्म है कि साधक भी इसमें फँस जाता है। वह संसार के सुखों से हटकर आध्यात्मिक सुखों का पीछा करने लगता है। उसे दर्शन चाहिए, अनुभव चाहिए, कुंडलिनी चाहिए, समाधि चाहिए, विशेषता चाहिए। अब बाज़ार बदल गया, खरीदार वही है।

माया केवल धन में नहीं, आध्यात्मिक उपलब्धि की इच्छा में भी छिप सकती है।

सच्ची साधना मन की इस दौड़ को देखना है। रोकना नहीं, पहले देखना। क्योंकि जो देखा गया, उससे दूरी बनती है। तुम अपने विचार नहीं हो—यह वाक्य सुनने में सरल है, पर जब विचार उठता है तो तुम तुरंत उसमें बह जाते हो। कोई अपमान करे, विचार उठता है, "उसने मेरे साथ ऐसा कैसे किया?" तुरंत शरीर में आग, वाणी में प्रतिक्रिया, भीतर कहानी। यदि उसी क्षण कोई जागरण हो और तुम देखो—विचार उठ रहा है, क्रोध उठ रहा है, शरीर में ऊर्जा उठ रही है—तो तुम उसके गुलाम नहीं रहते। यह देखना दमन नहीं है। दमन कहता है, "क्रोध नहीं होना चाहिए।" साक्षीभाव कहता है, "क्रोध है, मैं देख रहा हूँ।" दमन में संघर्ष है, देखने में स्वतंत्रता की शुरुआत।

मन को बदलने से पहले मन को जानना पड़ता है।

माया का एक गहरा रूप है तुलना। मन हर चीज़ को किसी और से नापता है। मैं उससे अधिक हूँ या कम? मेरा मार्ग सही है या उसका? मेरी भक्ति गहरी है या उसकी? मेरा ज्ञान ऊँचा है या उसका? तुलना अहंकार का भोजन है। वह कभी श्रेष्ठता से फूलता है, कभी हीनता से सिकुड़ता है। दोनों में केंद्र "मैं" ही है। आध्यात्मिक मार्ग पर तुलना बहुत सूक्ष्म हो जाती है। कोई कहता है, "मैंने इतने घंटे ध्यान किया।" कोई कहता है, "मुझे ऐसा अनुभव हुआ।" कोई कहता है, "मैं निराकार को मानता हूँ, वे लोग रूप में अटके हैं।" यह सब मन की चाल है। सत्य में कोई प्रतियोगिता नहीं होती। सूरज किसी दीपक से तुलना नहीं करता। नदी किसी दूसरी नदी से नहीं पूछती कि तुम कितनी पवित्र हो।

साधना अपनी आँख खोलना है, दूसरों की आँख नापना नहीं।

मन स्मृति और कल्पना के बीच झूलता है। या तो वह अतीत में जाता है—किसने क्या कहा, क्या हुआ, क्या खोया, क्या मिला। या भविष्य में जाता है—क्या होगा, कैसे होगा, मैं क्या बनूँगा, मुझे क्या मिलेगा। वर्तमान में मन बहुत कम टिकता है, क्योंकि वर्तमान में उसकी कहानी कमजोर पड़ती है। अभी के क्षण में केवल संवेदना है, साँस है, ध्वनि है, देखना है, होना है। अतीत और भविष्य के बिना अहंकार को टिकने में कठिनाई होती है। इसलिए मन वर्तमान से भागता है। वह साधना को भी भविष्य बना देता है—एक दिन मैं जागूँगा, एक दिन मुक्ति मिलेगी, एक दिन ईश्वर मिलेगा। पर अद्वैत कहता है—जो सत्य है, वह भविष्य में नहीं हो सकता। जो भविष्य में आएगा, वह समय में होगा; जो समय में है, वह जाएगा। सत्य अभी है।

मन भविष्य में मुक्ति चाहता है; सत्य अभी अपनी उपस्थिति में शांत है।

माया की सबसे बड़ी शक्ति है "मैं कर्ता हूँ" का भाव। क्रिया घटती है, मन कहता है, "मैंने किया।" सफलता आई, "मैं महान।" असफलता आई, "मैं दोषी।" शरीर, संस्कार, परिस्थिति, प्रकृति, समाज, अनगिनत कारण—सब मिलकर कोई घटना रचते हैं, पर मन बीच में खड़ा होकर घोषणा कर देता है, "मैं कर्ता हूँ।" यह कर्तापन बंधन का मूल है। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन में कर्म छोड़ दो। कर्म चलता रहेगा। शरीर अपना धर्म करेगा, बुद्धि निर्णय लेगी, वाणी बोलेगी, हाथ काम करेंगे। पर भीतर धीरे-धीरे देखो कि क्रिया जीवन की समग्रता से उठती है। तुम उस समग्रता से अलग कोई छोटा कर्ता नहीं हो।

जब कर्ता ढीला पड़ता है, कर्म अधिक शुद्ध होता है। क्योंकि तब वह भय, लालच और अहंकार से कम संचालित होता है।

मन को मिटाने की कोशिश मत करो। यह भी मन की ही योजना बन सकती है। मन से लड़ना मन को और मजबूत करता है। जैसे कोई कहे, "मुझे विचार नहीं चाहिए," तो वह स्वयं एक विचार है। जैसे कोई कहे, "मुझे शांत होना है," तो यह चाह भी अशांति बन सकती है। इसलिए मार्ग संघर्ष का नहीं, जागरण का है। मन को रहने दो, पर जानो। विचार उठे, देखो। भाव उठे, देखो। इच्छा उठे, देखो। भय उठे, देखो। धीरे-धीरे देखने की रोशनी में मन की पकड़ कम होने लगती है। मन तब भी चलता है, पर तुम उसमें खोते नहीं। जैसे आकाश में बादल चलते हैं, पर आकाश बादल नहीं बनता।

तुम मन के आकाश हो, विचारों के बादल नहीं।

लेकिन यह वाक्य भी केवल विचार न बन जाए। इसे प्रत्यक्ष देखना होगा। अभी यदि तुम आँखें बंद करो, तो विचार उठेंगे। कोई छवि, कोई शब्द, कोई योजना। क्या तुम उन्हें आते-जाते नहीं देख सकते? जो देख रहा है, क्या वह विचार है? यदि वह भी कोई सूक्ष्म विचार लगे, तो उसे भी देखो। देखते-देखते एक खुलापन अनुभव होगा। वही साक्षी का प्रारंभ है। वहाँ मन समाप्त नहीं होता, पर मन की सत्ता टूटती है। तुम पहली बार जानते हो कि भीतर एक ऐसा आयाम है जो विचारों से पहले है, भावनाओं से गहरा है, और घटनाओं से अछूता है।

माया तब तक शक्तिशाली है जब तक उसे अनदेखा किया जाता है। जैसे अंधेरे में रस्सी साँप लगती है, दीपक जलते ही भय मिटता है। साँप को मारना नहीं पड़ता, क्योंकि साँप था ही नहीं। ऐसे ही अहंकार, कर्तापन, पकड़, भय—इनसे लड़कर नहीं, इन्हें स्पष्ट देखकर मुक्ति आती है। स्पष्टता करुणामयी होती है। वह दोष नहीं देती, केवल दिखाती है। और जो सचमुच दिख गया, उससे अलगाव अपने आप आता है।

मन हमेशा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है। वह ईश्वर को भी निष्कर्ष बनाना चाहता है। "ईश्वर ऐसा है।" "सत्य ऐसा है।" "अद्वैत का अर्थ यह है।" निष्कर्ष मन को सुरक्षा देते हैं, पर जीवित सत्य निष्कर्ष में बंद नहीं होता। इसलिए सच्चे साधक को अनिश्चितता से मित्रता करनी होगी। "मैं नहीं जानता"—यह वाक्य बहुत पवित्र है। यदि यह ईमानदार है, तो यह ज्ञान का द्वार है। झूठा जानना मन को बंद करता है; सच्चा न जानना हृदय को खोलता है। ईश्वर को जानने की यात्रा में बहुत से पुराने उत्तर गिरेंगे। मन असुरक्षित महसूस करेगा। पर उसी असुरक्षा में नया आकाश खुलता है।

जिसे तुम निश्चितता कहते हो, वह अक्सर मन की दीवार होती है। सत्य दीवार नहीं, खुला आकाश है।

माया से मुक्ति संसार छोड़ने से नहीं आती। कोई जंगल चला जाए और मन साथ हो, तो संसार साथ चला गया। कोई परिवार में रहे और साक्षी जाग जाए, तो भीतर स्वतंत्रता संभव है। बाहरी परिस्थिति सहायक हो सकती है, पर निर्णायक नहीं। निर्णायक है पहचान। क्या तुम स्वयं को मन की कहानी मानते हो, या उस चेतना को पहचानते हो जिसमें कहानी प्रकट होती है? यदि कहानी ही तुम हो, तो हर मोड़ तुम्हें हिला देगा। यदि तुम देखने वाली उपस्थिति हो, तो कहानी चलती रहेगी, पर भीतर एक आधार रहेगा।

अद्वैत संसार से भागना नहीं, संसार को सही प्रकाश में देखना है।

जब मन शांत होता है, तो ईश्वर की खोज बदल जाती है। पहले ईश्वर एक वस्तु था। अब ईश्वर उस चेतना की तरह झलकता है जिसमें मन भी प्रकट है। पहले साधक कहता था, "मुझे ईश्वर चाहिए।" अब वह देखता है कि चाह भी मन में उठ रही है और उसका ज्ञान भी किसी गहरे में है। वह गहरा कौन है? वहाँ से यात्रा साक्षी की ओर मुड़ती है। मन और माया को समझे बिना साक्षी में टिकना कठिन है, क्योंकि हर विचार तुम्हें फिर खींच लेगा। पर एक बार मन की चालें स्पष्ट होने लगें, तो भीतर स्थान बनता है। वही स्थान मंदिर है, वही ध्यान है, वही अगला द्वार है।

माया को शत्रु मत मानो। वह भी सत्य की लीला है। उसी ने रूप रचा, उसी ने प्रश्न रचा, उसी ने खोज रची। पर माया में खोना बंधन है, माया को जानना ज्ञान की शुरुआत। जैसे स्वप्न में सब सच लगता है, जागने पर स्वप्न को दोष नहीं देते। बस जानते हैं—वह स्वप्न था। वैसे ही जागरण के बाद संसार को नष्ट नहीं किया जाता; उसे उसके स्थान पर देखा जाता है। रूप चलता है, संबंध चलते हैं, कर्म चलता है, पर भीतर पकड़ कम हो जाती है। यही मुक्ति की सुगंध है।

अभ्यास

आज दिन में कई बार रुककर देखो—अभी मन क्या सोच रहा है?
विचार को बदलो मत।
केवल इतना जानो, "यह विचार है, मैं इसका जानने वाला हूँ।"
फिर एक साँस गहरी लो और वर्तमान ध्वनियों को सुनो।
यही माया से दूरी की शुरुआत है।

Chapter 5 — साक्षी से सत्य तक

मन और माया को देखते-देखते एक दिन साधक अपने भीतर एक शांत स्थान को पहचानने लगता है। घटनाएँ आती हैं, पर कुछ है जो उन्हें देखता है। विचार उठते हैं, पर कुछ है जो जानता है कि विचार उठे। भावनाएँ बदलती हैं, पर कुछ है जो उनके परिवर्तन से अवगत है। शरीर में पीड़ा या सुख आता है, पर कुछ है जो कहता है, "यह अनुभव हो रहा है।" यही साक्षी है। साधना में साक्षी की पहचान एक महान मोड़ है। यहाँ पहली बार साधक मन से थोड़ा अलग खड़ा होता है। वह जानता है कि मैं अपने विचार नहीं हूँ, मैं अपनी भावनाएँ नहीं हूँ, मैं अपनी कहानी नहीं हूँ।

पर साक्षी अंतिम सत्य नहीं है। साक्षी द्वार है।

शुरुआत में साक्षीभाव साधक को बहुत राहत देता है। पहले वह हर विचार में बह जाता था। अब वह देखता है। पहले क्रोध उठते ही वह क्रोध बन जाता था। अब वह जानता है कि क्रोध उठ रहा है। पहले दुख उसे पूरा ढक लेता था। अब दुख के साथ-साथ एक जानना उपस्थित है। यह जानना स्वतंत्रता की सुगंध लाता है। साधक महसूस करता है कि जीवन की लहरें मुझे पूरी तरह डुबो नहीं सकतीं। भीतर कोई आकाश है। यह अनुभव बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि बिना इसके अद्वैत केवल दर्शन रह जाएगा। साक्षीभाव दर्शन को प्रत्यक्षता देता है।

पर यहीं एक सूक्ष्म अहंकार जन्म ले सकता है। साधक कह सकता है, "मैं साक्षी हूँ।" यह वाक्य उपयोगी है, पर यदि इसे पकड़ लिया, तो नया बंधन बन जाएगा। पहले वह शरीर-मन को "मैं" कहता था, अब वह साक्षी को "मैं" कहने लगा। यह पहले से सूक्ष्म है, पर अभी भी एक केंद्र बचा है। अभी भी देखने वाला और देखा गया दो हैं। विचार देखे जा रहे हैं, साक्षी देखने वाला है। संसार दृश्य है, साक्षी द्रष्टा है। यह द्वैत बहुत पवित्र है, पर अद्वैत में इसे भी पार होना है।

साक्षी अंतिम घर नहीं, घर की दहलीज़ है।

जब तुम कहते हो, "मैं साक्षी हूँ," तो देखो—यह कथन भी जाना जा रहा है। साक्षी की अनुभूति भी प्रकट हो रही है। जो कहता है "मैं साक्षी हूँ," क्या वह भी कोई सूक्ष्म विचार नहीं? सच्ची खोज यहाँ और गहरी होती है। पहले तुमने शरीर को देखा, मन को देखा, भावों को देखा। अब साक्षी की धारणा को भी देखो। क्या साक्षी कोई वस्तु है? क्या वह कहीं स्थित है? क्या उसका आकार है? क्या वह तुम्हारे शरीर के भीतर बैठा कोई छोटा देखने वाला है? यदि तुम उसे पकड़ने की कोशिश करोगे, तो केवल विचार मिलेगा। साक्षी को वस्तु बनाते ही वह साक्षी नहीं रहता। वह वही है जिसके कारण वस्तुएँ जानी जाती हैं।

साक्षी को जानना संभव नहीं, क्योंकि वही जानने की रोशनी है।

यहाँ भाषा कठिन हो जाती है। जब हम कहते हैं "साक्षी," तो लगता है कोई है जो देख रहा है। पर गहराई में केवल देखना है। कोई अलग देखने वाला नहीं मिलता। जैसे प्रकाश कमरे में वस्तुओं को दिखाता है, पर प्रकाश को अलग वस्तु की तरह पकड़ना कठिन है। जैसे आँख सब देखती है, पर स्वयं को सीधे नहीं देख सकती। वैसे ही चेतना सब अनुभवों को प्रकाशित करती है, पर स्वयं अनुभव की वस्तु नहीं बनती। साधक की भूल यह है कि वह चेतना को भी किसी अनुभव के रूप में पाना चाहता है। वह कहता है, "मुझे आत्मा का अनुभव कब होगा?" पर जो अनुभव आएगा, वह जाएगा। आत्मा वह नहीं जो आता-जाता है। आत्मा वह है जिसमें आने-जाने का ज्ञान होता है।

तुम सत्य को अनुभव नहीं करोगे; तुम जानोगे कि हर अनुभव उसी में है।

साक्षीभाव की साधना में दूरी होती है। तुम कहते हो, "मैं शरीर नहीं, मन नहीं, भाव नहीं।" यह नेति-नेति की दिशा है—यह नहीं, यह नहीं। यह आवश्यक है, क्योंकि पहचान गलत जगहों से हटती है। पर यदि केवल नकारते रहो, तो सूखापन आ सकता है। अद्वैत में नकार के बाद पहचान है। पहले जो तुम नहीं हो, उससे छूटना। फिर जो बचता है, उसमें विश्राम। और अंत में यह देखना कि जिसे तुमने "दृश्य" कहकर अलग किया था, वह भी उसी चेतना से भिन्न नहीं। यह बहुत सूक्ष्म पलटाव है। पहले साक्षी संसार से अलग करता है। फिर सत्य दिखाता है कि अलगाव भी एक साधन था। चेतना दृश्य से अलग नहीं; दृश्य चेतना की अभिव्यक्ति है।

समुद्र लहरों का साक्षी नहीं है; समुद्र ही लहर बनकर उठ रहा है।

शुरुआत में यह कहना खतरनाक हो सकता है, क्योंकि मन तुरंत पकड़ लेगा—"सब मैं हूँ, इसलिए कुछ भी करो।" यह अद्वैत नहीं, अहंकार की चोरी है। इसलिए पहले साक्षी में परिपक्वता चाहिए। जब तक मन की पकड़ कम न हो, जब तक अहंकार की कठोरता न पिघले, जब तक करुणा न आए, तब तक "सब मैं हूँ" केवल भ्रम बन सकता है। सच्ची पहचान विनम्रता लाती है, लापरवाही नहीं। जब सच में दिखता है कि सब उसी एक चेतना में है, तब दूसरों को चोट पहुँचाना स्वयं को चोट पहुँचाने जैसा अनुभव होता है। इसलिए अद्वैत नैतिकता से नीचे नहीं, उससे गहरा है। वह बाहर से नियम नहीं थोपता; भीतर से एकत्व की संवेदना जगाता है।

साक्षी से सत्य तक की यात्रा में एक बड़ा भ्रम है—शांति को अंतिम मान लेना। ध्यान में शांति आई, विचार कम हुए, शरीर हल्का लगा, भीतर विस्तार महसूस हुआ। यह सुंदर है, पर यह भी अनुभव है। शांति आती है, जाती है। कभी ध्यान गहरा, कभी बेचैन। यदि तुम शांति से चिपक गए, तो अशांति शत्रु लगेगी। पर साक्षी का अर्थ है—शांति भी देखी जाती है, अशांति भी। सत्य शांति और अशांति दोनों का आधार है। वह केवल सुखद अवस्था नहीं है। यदि सत्य कोई अवस्था होता, तो वह समय में होता और बदल जाता। सत्य वह है जो हर अवस्था को जानता है।

अवस्था बदलती है; जानना नहीं बदलता।

यह जानना भी व्यक्तिगत नहीं है। यही अगला द्वार है। साधक पहले सोचता है—मेरी चेतना। पर क्या चेतना सचमुच व्यक्तिगत है? शरीर व्यक्तिगत है, मन व्यक्तिगत है, स्मृतियाँ व्यक्तिगत हैं। पर शुद्ध जानना क्या किसी नाम का है? जब तुम कहते हो "मैं हूँ," और कोई दूसरा भी कहता है "मैं हूँ," तो "मैं हूँ" की मूल अनुभूति अलग-अलग है या एक ही प्रकाश अलग उपकरणों में चमक रहा है? जैसे अनेक खिड़कियों से एक ही आकाश दिखता है, वैसे ही अनेक शरीर-मन में एक ही चेतना प्रतिबिंबित है। खिड़कियाँ अलग हैं, आकाश एक है। यदि खिड़की कहे "मेरा आकाश," तो यह भ्रम है। आकाश किसी का नहीं। चेतना भी किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं।

तुम चेतना के मालिक नहीं; तुम चेतना की अभिव्यक्ति हो।

साक्षीभाव में बैठते हुए यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता है कि "मेरा अनुभव" भी एक धारणा है। अनुभव तो चेतना में उठ रहा है। शरीर-मन का उपकरण विशेष है, इसलिए अनुभव का रंग विशेष है। पर जानने की रोशनी में कोई निजीपन नहीं। यही कारण है कि गहरी समाधि, गहरा प्रेम, गहरा मौन—इन सबमें व्यक्ति की सीमा ढीली पड़ती है। तुम कुछ समय के लिए अपना बोझ भूल जाते हो। पहाड़ देखकर, समुद्र देखकर, संगीत सुनकर, प्रार्थना में, ध्यान में—कभी-कभी "मैं" पीछे हट जाता है और केवल अनुभव की व्यापकता रह जाती है। ये झलकेहैं। पर अद्वैत झलक को स्थायी अनुभव बनाने की कोशिश नहीं करता। वह देखता है कि जो झलक में प्रकट हुआ, वह हमेशा से आधार था।

सत्य नया नहीं आता; केवल भ्रम हटता है।

जब साक्षी परिपक्व होता है, तो जीवन बदलता है, पर बाहर से बहुत साधारण दिख सकता है। साधक पहले की तरह चलता है, बोलता है, काम करता है। पर भीतर पकड़ कम होती है। सफलता आती है, वह देखता है। अपमान आता है, वह देखता है। सुख आता है, वह देखता है। दुख आता है, वह देखता है। देखने में उदासीनता नहीं, स्पष्टता है। वह पत्थर नहीं बनता। बल्कि वह अधिक संवेदनशील हो सकता है, क्योंकि अब वह अपनी कहानी की रक्षा में इतना व्यस्त नहीं। साक्षीभाव जीवन से भागना नहीं; जीवन को बिना विकृति के देखना है।

पर फिर एक दिन देखने वाला भी खोजा जाता है और नहीं मिलता। यह डराने वाला हो सकता है। क्योंकि अभी तक साधक का सहारा था—मैं साक्षी हूँ। अब यदि यह भी पिघलने लगे, तो क्या बचेगा? यहीं वास्तविक समर्पण चाहिए। सत्य में प्रवेश का अर्थ है किसी अंतिम वस्तु को पकड़ना नहीं, हर पकड़ का गिरना। जब देखने वाला भी नहीं मिलता, तब शून्य जैसा लगता है। मन डरता है—मैं खो जाऊँगा। पर जो खो सकता है, वह तुम थे ही नहीं। जो सच है, वह खोने योग्य नहीं। वास्तव में व्यक्ति की सीमा पिघलती है, और जो बचता है वह अनुपस्थिति नहीं, असीम उपस्थिति है।

अहंकार को सत्य शून्य लगता है; हृदय को वही पूर्णता लगती है।

साक्षी से सत्य तक का अंतिम कदम किया नहीं जाता। प्रयास तुम्हें दहलीज़ तक लाता है। देखना, ध्यान, विवेक, भक्ति—ये सब भूमि तैयार करते हैं। पर अंतिम पहचान कृपा जैसी घटती है। कृपा का अर्थ कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं; कृपा का अर्थ है जब अहंकार की पकड़ इतनी ढीली हो जाए कि सत्य स्वयं को छिपा न सके। सूर्य हमेशा था, बादल हटते ही प्रकाश प्रकट हुआ। क्या सूर्य ने नया प्रकाश भेजा? नहीं। केवल आवरण हटे। इसी तरह आत्मा हमेशा है। साधना आत्मा को बनाती नहीं, केवल आवरणों को पारदर्शी करती है।

तब यह स्पष्ट होता है कि साक्षी भी ब्रह्म की ही एक शिक्षण-स्थिति थी। पहले मन कहता था, "मैं शरीर हूँ।" फिर विवेक ने कहा, "मैं साक्षी हूँ।" फिर सत्य ने दिखाया, "मैं कोई सीमित साक्षी भी नहीं। केवल एक अद्वितीय चेतना है, जिसमें शरीर, मन, साक्षीभाव, जगत—सब उठते और विलीन होते हैं।" यहाँ भाषा टूटने लगती है। क्योंकि जो कहा जाएगा, वह दो बना देगा। फिर भी संकेत करना पड़ता है। यह वही है जिसे ऋषियों ने ब्रह्म कहा, आत्मा कहा, सत्-चित्-आनंद कहा। पर ये नाम भी केवल संकेत हैं। सत्य नाम से बड़ा है।

साक्षी में तुम संसार को देखते हो। सत्य में केवल ब्रह्म स्वयं को रूपों में जानता है।

इस पहचान के बाद जीवन समाप्त नहीं होता। शरीर चलता है, मन उपयोगी उपकरण की तरह काम करता है, संबंध रहते हैं, कर्म होते हैं। पर केंद्र बदल जाता है। पहले जीवन "मेरे लिए" था। अब जीवन स्वयं में है। पहले हर घटना "मेरी कहानी" में फिट होती थी। अब घटना आती है, अपना स्थान लेती है, चली जाती है। पहले ईश्वर दूर था। अब ईश्वर खोज का विषय नहीं, अस्तित्व की सहजता है। पहले साधक सत्य की ओर जा रहा था। अब दिखता है—चलना भी उसी में था, पहुँचना भी उसी में, और जिसे पहुँचना था वह भी उसी से बना था।

यही साक्षी से सत्य तक की यात्रा है। पहले अलग होकर देखना, फिर अलगाव की सूक्ष्मता को भी पहचानना, फिर उस अद्वैत में विश्राम जहाँ देखने वाला, देखा गया और देखना तीन नहीं रहते। यह कोई बौद्धिक निष्कर्ष नहीं। यह जीवन की गहराई में शांत विस्फोट है। इसे पाने का आग्रह भी बाधा है, पर इसके लिए ईमानदारी आवश्यक है। अभ्यास करो, पर फल की पकड़ छोड़ो। देखो, पर देखने वाले को मत बना लो। मौन में बैठो, पर मौन को अनुभव बनाकर मत पकड़ो। सत्य बहुत निकट है—इतना निकट कि मन उसे खोजते-खोजते चूक जाता है।

जो खोज रहा है, पहले उसे देखो। फिर देखो कि देखने वाला भी कहाँ है। जहाँ कोई केंद्र नहीं मिलता, वहीं असीम केंद्रहीन सत्य है।

अभ्यास

कुछ देर बैठकर शरीर की संवेदनाओं को देखो।
फिर विचारों को देखो, फिर भावों को देखो।
अब पूछो, "इन सबको जानने वाला कहाँ है?"
उत्तर मत बनाओ।
केवल उस खुले जानने में विश्राम करो।

Chapter 6 — अरूप: जहाँ ईश्वर शब्द भी गिर जाता है

रूप से भक्ति तक, भक्ति से मन की पहचान तक, मन से साक्षी तक—यात्रा साधक को धीरे-धीरे सूक्ष्म बनाती है। पर एक बिंदु पर आकर सभी शब्द भारी लगने लगते हैं। ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, साक्षी, चेतना—ये सब अब तक सहारे थे, संकेत थे, दिशाएँ थीं। पर सत्य के अंतिम मौन में ये भी गिरने लगते हैं। अरूप वही क्षेत्र है जहाँ ईश्वर शब्द भी बहुत छोटा हो जाता है।

जब हम "ईश्वर" कहते हैं, तो मन तुरंत कुछ कल्पना करने लगता है। कोई प्रकाश, कोई शक्ति, कोई उपस्थिति, कोई विशाल सत्ता, कोई दिव्य अनुभव। पर अरूप में कल्पना की जगह नहीं। वहाँ ईश्वर वस्तु नहीं, अनुभव नहीं, सत्ता भी नहीं जिसे सामने रखकर जाना जाए। वहाँ जानने वाला और ज्ञेय का संबंध ही नहीं बचता। जो है, वही है। उसे कोई दूसरा जान नहीं सकता, क्योंकि दूसरा है ही नहीं।

अरूप को पाने वाला कोई नहीं; अरूप में पाने वाला पिघल जाता है।

यह सुनकर मन डर सकता है। उसे लगता है, "यदि ईश्वर भी शब्द से गिर गया, तो फिर क्या रहेगा?" यही मन की सीमा है। मन शब्दों में सुरक्षित महसूस करता है। उसे नाम चाहिए। नाम से वह पकड़ बनाता है। नाम से वह कह सकता है, "मैं जानता हूँ।" पर अरूप में जानना भी वैसा नहीं रहता जैसा मन समझता है। यह अज्ञान नहीं है; यह उस ज्ञान से पार है जिसमें विषय और वस्तु होती है। जैसे नमक की गुड़िया समुद्र नापने चली और समुद्र में घुल गई। अब कौन बताए कि गहराई कितनी थी? घुलना ही उत्तर है।

शास्त्र कहते हैं, "नेति, नेति"—यह नहीं, यह नहीं। शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, आनंद की अवस्था भी नहीं। जो भी दिखे, वह नहीं। जो भी जाना जाए, वह नहीं। जो भी अनुभव बने, वह नहीं। यह नकार निराशा नहीं है। यह तुम्हें हर सीमित पकड़ से मुक्त करता है। पर नेति-नेति के अंत में कोई खाली अंधेरा नहीं है। वहाँ वह असीम है जिसे "यह" कहकर पकड़ा नहीं जा सकता, पर जिसके बिना कोई "यह" प्रकट नहीं हो सकता।

अरूप शून्य नहीं, सब रूपों का अदृश्य आधार है।

जब साधक रूप में ईश्वर को देखता है, तो ईश्वर सामने है। जब भक्ति गहरी होती है, तो ईश्वर हृदय में है। जब साक्षी जागता है, तो ईश्वर चेतना की तरह है। पर अरूप में "सामने," "भीतर," "चेतना की तरह"—ये सब दिशाएँ भी गिरती हैं। वहाँ न भीतर है, न बाहर। भीतर-बाहर शरीर और मन के संदर्भ हैं। अरूप में संदर्भ नहीं। इसलिए उसे समझने का हर प्रयास उसे छोटा कर देता है। फिर भी प्रेम से संकेत करना पड़ता है, क्योंकि साधक को दिशा चाहिए।

अरूप कोई दूर की आध्यात्मिक अवस्था नहीं। वह अभी भी है। जब तुम आँख खोलकर संसार देखते हो, रूप दिखते हैं। उन रूपों का अस्तित्व किस पर टिका है? आँख बंद करो, विचार दिखते हैं। उनका ज्ञान किसमें है? गहरी नींद में विचार नहीं, संसार नहीं, फिर भी जागकर कहते हो, "मैं अच्छी नींद सोया।" उस अज्ञान का भी कोई आधार था। हर अवस्था आती-जाती है, पर जो है, वह अवस्था नहीं। उसी को अरूप कहते हैं। वह कहीं नहीं, क्योंकि सब जगह का आधार है। वह किसी समय में नहीं, क्योंकि समय उसी में प्रकट है।

जो कभी आता नहीं, वही कभी जाता नहीं।

मन अरूप को अनुभव करना चाहता है। वह पूछता है, "अरूप का अनुभव कैसा होगा?" यह प्रश्न ही भूल है। अनुभव हमेशा किसी गुण का होता है—प्रकाश, शांति, आनंद, विस्तार, शून्यता। अरूप गुणातीत है। यदि कोई अनुभव हुआ, तो वह सुंदर हो सकता है, पर अरूप नहीं। अरूप वह है जिसके कारण अनुभव जाना जाता है। इसलिए अरूप की पहचान अनुभव के पीछे नहीं भागती; वह अनुभवकर्ता की वास्तविकता को देखती है। और अंत में अनुभवकर्ता भी एक धारणा सिद्ध होता है।

जब तक तुम कहते हो "मैंने अरूप अनुभव किया," तब तक अरूप नहीं जाना गया। क्योंकि वहाँ "मैं" बचा है और "अनुभव" बचा है। अरूप में कोई दावा नहीं बचता। सच्चे ज्ञानी का मौन इसलिए गहरा होता है। वह बोल सकता है, सिखा सकता है, प्रेम कर सकता है, पर भीतर कोई दावा नहीं कि "मैंने पाया।" क्या आकाश कहता है, "मैं व्यापक हूँ"? क्या सूर्य कहता है, "मैं प्रकाशमान हूँ"? जो है, वह स्वयं प्रमाण है। दावा वहाँ होता है जहाँ संदेह छिपा हो।

सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं; अहंकार को प्रमाण चाहिए।

अरूप की दिशा में सबसे बड़ी बाधा है सूक्ष्म आध्यात्मिक अहंकार। साधक ने कुछ अनुभव किए, कुछ शांति पाई, कुछ समझ विकसित हुई, और अब वह स्वयं को दूसरों से अलग मानने लगा। वह कहता है, "मैं जागरूक हूँ, वे अज्ञानी हैं।" यह बहुत सूक्ष्म माया है। अरूप में प्रवेश से पहले यह भी जलना पड़ता है। जब तक कोई "मैं जानता हूँ" खड़ा है, तब तक पूर्ण विसर्जन नहीं। ज्ञान का भी त्याग करना होगा, पर अज्ञान में गिरकर नहीं। जैसे काँटे से काँटा निकाला और दोनों फेंक दिए। शास्त्र, गुरु, ध्यान, भक्ति—सबने मार्ग दिया। पर अंत में मार्ग भी गिरता है, क्योंकि सत्य किसी मार्ग का परिणाम नहीं। सत्य वह है जिसमें मार्ग और यात्री दोनों प्रकट हुए।

इसलिए अरूप की बात सुनकर साधना छोड़ना मूर्खता है, और साधना को अंतिम मान लेना भी मूर्खता है। साधना नाव है। पार पहुँचने पर नाव को धन्यवाद दो, सिर पर मत ढोओ। पर नदी के बीच में नाव छोड़ देना भी डूबना है। साधक को ईमानदारी से देखना होगा कि वह कहाँ है। यदि मन अभी अशांत है, यदि पहचान शरीर-मन में गहरी है, तो साक्षीभाव, भक्ति, ध्यान—सब आवश्यक हैं। पर साथ ही यह स्मरण रहे कि ये साधन हैं, स्वयं सत्य नहीं।

अरूप किसी उपलब्धि की चोटी नहीं, हर चोटी और घाटी का आधार है।

जब ईश्वर शब्द गिरता है, तो नास्तिकता नहीं बचती। बल्कि सबसे गहरी पवित्रता बचती है। क्योंकि अब ईश्वर किसी विशेष वस्तु में सीमित नहीं। अब उसे सिद्ध करने या बचाने की आवश्यकता नहीं। अब वह मंदिर में भी है, पर मंदिर तक सीमित नहीं। वह मंत्र में भी है, पर मंत्र से परे भी। वह प्रकाश में भी है, अंधकार में भी। वह जन्म में भी है, मृत्यु में भी। पर यह कहना भी केवल भाषा है। वास्तव में "वह" भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "वह" कहने से दूरी बनती है।

यहीं मौन सबसे सटीक भाषा बनता है।

मौन का अर्थ बोलना बंद करना नहीं। बहुत लोग चुप रहकर भी भीतर शोर से भरे होते हैं। अरूप का मौन वह है जहाँ भीतर विभाजन का शोर शांत हो जाता है। वहाँ विचार आ सकते हैं, शब्द बोले जा सकते हैं, जीवन चल सकता है, पर आधार मौन है। जैसे समुद्र की सतह पर लहरें हैं, पर गहराई शांत है। अरूप की पहचान सतह को रोकती नहीं; गहराई को प्रकट करती है।

इस मौन में मृत्यु का भय भी बदलने लगता है। मृत्यु शरीर की है, रूप की है, कहानी की है। जो जन्मा है, वह मरेगा। पर क्या चेतना जन्मी थी? यह प्रश्न बुद्धि से मत हल करो। सीधे देखो। जन्म की स्मृति भी तुम्हें बाद में मिली। शरीर बदलता रहा, मन बदलता रहा, पर "मैं हूँ" की मूल उपस्थिति हर अवस्था में आधार रही। गहरी नींद में व्यक्ति का संसार लुप्त हो जाता है, पर अस्तित्व का आधार लुप्त नहीं होता। मृत्यु गहरी नींद जैसी है—यह कहना भी पूर्ण नहीं, पर संकेत है कि रूप का अंत अरूप का अंत नहीं हो सकता।

जो रूप नहीं, वह रूप के मिटने से कैसे मिटेगा?

अरूप की पहचान जीवन को हल्का करती है। जब तुम जानते हो कि कोई स्थायी व्यक्तिगत केंद्र नहीं, तो अपमान किसका? गर्व किसका? भय किसका? इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर की रक्षा न होगी, संबंधों की देखभाल न होगी। सब होगा, पर भीतर की पकड़ ढीली होगी। जीवन अधिक सहज हो जाएगा। कर्म घटेगा, पर कर्ता का बोझ कम होगा। प्रेम होगा, पर स्वामित्व कम होगा। दुःख आएगा, पर "मैं नष्ट हो गया" की कहानी कम होगी। आनंद आएगा, पर उसे पकड़ने की बेचैनी कम होगी।

अरूप संसार को मिटाता नहीं; संसार को बोझ से मुक्त करता है।

यहाँ साधक को एक और सूक्ष्म बात समझनी है। अरूप की पहचान संसार से उदासीनता नहीं है। कई लोग सोचते हैं कि यदि सब ब्रह्म है, तो कुछ मायने नहीं रखता। यह मृत समझ है। सच्ची पहचान में सब बहुत गहरा मायने रखता है, पर व्यक्तिगत पकड़ से नहीं। फूल इसलिए सुंदर नहीं कि वह मेरा है; वह इसलिए सुंदर है कि वही अस्तित्व उसमें खिल रहा है। मनुष्य इसलिए प्रिय नहीं कि वह मेरी इच्छा पूरी करता है; वह इसलिए प्रिय है कि उसी एक चेतना की झलक है। करुणा इसलिए नहीं कि मैं पुण्य कमाऊँ; करुणा इसलिए कि अलगाव का भ्रम पिघल रहा है।

अद्वैत करुणा का अंत नहीं, उसकी जड़ है।

अरूप में ईश्वर शब्द गिरता है, पर भक्ति मरती नहीं। अब भक्ति बिना भक्त की हो जाती है। अब प्रणाम बिना किसी विशेष दिशा के है। अब आँख खुलती है तो आरती है, साँस चलती है तो मंत्र है, मौन है तो ध्यान है, कर्म है तो सेवा है। कोई दावा नहीं, कोई घोषणा नहीं। सरल जीवन, गहरी उपस्थिति। यही परिपक्वता है। जो सच में अरूप को जानता है, वह रूपों से प्रेम करना बंद नहीं करता; वह उन्हें अधिक स्वतंत्र प्रेम करता है। क्योंकि अब वह जानता है कि कोई भी रूप अंतिम नहीं, और फिर भी हर रूप उसी अंतिम का नृत्य है।

शब्द गिरते हैं, पर जीवन बोलता रहता है।

अरूप की ओर जाने के लिए तुम्हें किसी विशेष जगह जाने की आवश्यकता नहीं। अभी जो है, उसमें देखो। इस वाक्य को पढ़ते हुए जो मौन पृष्ठभूमि है, उसे महसूस करो। शब्द आते हैं, जाते हैं। उनके बीच खाली स्थान है। विचार उठता है, गिरता है। उसके पहले और बाद में खुलापन है। साँस आती है, जाती है। उसके बीच सूक्ष्म विराम है। इसी विराम में उतरना सीखो। पर विराम को पकड़ना मत। वह पकड़ते ही वस्तु बन जाएगा। केवल सहज रहो। जैसे हाथ खुला हो। अरूप खुलापन है। मुट्ठी में नहीं आता।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट होगा कि सत्य दूर नहीं था। जो खोज रहा था, वही उसकी सबसे बड़ी ओट था। खोज आवश्यक थी, क्योंकि बिना खोज के यह देखना कठिन था कि खोजने वाला ही भ्रम है। ईश्वर शब्द आवश्यक था, क्योंकि उसने दिशा दी। रूप आवश्यक था, क्योंकि उसने प्रेम जगाया। भक्ति आवश्यक थी, क्योंकि उसने अहंकार पिघलाया। साक्षी आवश्यक था, क्योंकि उसने मन से दूरी दी। पर अंत में सबने तुम्हें उस स्थान पर लाकर छोड़ दिया जहाँ कोई स्थान नहीं। जहाँ केवल यह है।

यहीं ईश्वर शब्द झुकता है और मौन हो जाता है।

अभ्यास

आज कुछ देर शब्दों के बीच के मौन को सुनो।
साँस के आने-जाने के बीच सूक्ष्म विराम को महसूस करो।
किसी अनुभव को पकड़ो मत।
केवल खुले रहो।
जो है, उसे बिना नाम दिए रहने दो।

Chapter 7 — तुम ही वो हो

यात्रा अब उसी स्थान पर लौटती है जहाँ से चली थी। पहला प्रश्न था—ईश्वर कौन है? अब उत्तर शब्दों में नहीं, पहचान में खड़ा है। ईश्वर कोई दूर की सत्ता नहीं, कोई भविष्य की उपलब्धि नहीं, कोई कल्पित स्वरूप नहीं। रूप में उसकी झलक थी, भक्ति में उसकी आग थी, मन और माया में उसकी लीला थी, साक्षी में उसकी रोशनी थी, अरूप में उसकी असीमता थी। और अब अंतिम वचन उठता है—तुम ही वो हो।

यह वचन अहंकार के लिए नहीं है। यदि मन कहे, "मैं ईश्वर हूँ," तो सावधान रहो। यह सबसे खतरनाक भ्रम हो सकता है। व्यक्ति ईश्वर नहीं है। तुम्हारी कहानी, तुम्हारा नाम, तुम्हारा शरीर, तुम्हारी पसंद-नापसंद, तुम्हारी उपलब्धियाँ—ये ईश्वर नहीं। "तुम ही वो हो" का अर्थ है कि तुम्हारे भीतर जो शुद्ध होना है, जो "मैं हूँ" की मूल उपस्थिति है, जो विचारों से पहले और बाद में है, जो शरीर के परिवर्तन में भी अपरिवर्तित है, जो सब अनुभवों को प्रकाशित करता है—वही सत्य है। वही ब्रह्म है। वही ईश्वर है।

अहंकार कहे "मैं ईश्वर हूँ" तो अज्ञान। मौन में प्रकट हो "केवल वही है" तो ज्ञान।

तुमने जीवन भर स्वयं को छोटा माना। कभी शरीर तक सीमित, कभी मन तक, कभी समाज की पहचान तक। तुम्हें बताया गया कि तुम अधूरे हो, पापी हो, असुरक्षित हो, किसी बाहरी सत्ता की कृपा पर निर्भर हो। तुमने संसार से प्रमाण माँगा—क्या मैं योग्य हूँ? क्या मैं प्रिय हूँ? क्या मैं सफल हूँ? क्या मैं सुरक्षित हूँ? और संसार ने कभी तुम्हें थोड़ा दिया, कभी छीन लिया। इसलिए तुम्हारी पहचान हिलती रही। पर अब देखो—जो इन सब उतार-चढ़ाव को जानता रहा, क्या वह स्वयं उतार-चढ़ाव है? जो बचपन, युवावस्था, आनंद, दुख, सफलता, असफलता—सबका साक्षी रहा, क्या वह स्वयं कहानी का पात्र है?

तुम पात्र नहीं, वह चेतना हो जिसमें पूरा नाटक घट रहा है।

पर यह समझ बुद्धि से नीचे उतरनी चाहिए। "मैं आत्मा हूँ" कहना आसान है। किसी अपमान पर शांत रहना कठिन है। "सब ब्रह्म है" कहना आसान है। अपने भय को देखना कठिन है। "जगत माया है" कहना आसान है। संबंधों में पकड़ छोड़ना कठिन है। इसलिए अंतिम अध्याय कोई घोषणापत्र नहीं, जीवन का निमंत्रण है। तुम ही वो हो—इसका अर्थ है अब जीवन को इस पहचान से जीना। धीरे-धीरे, ईमानदारी से, बिना दिखावे के। जहाँ पकड़ दिखे, उसे देखो। जहाँ भय उठे, उसे प्रकाश में लाओ। जहाँ अहंकार दावा करे, मुस्कुराकर उसे पहचानो। सत्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं; उसे जीने की आवश्यकता है।

तुम ही वो हो, इसलिए तुम्हें कुछ बनना नहीं। पर जो झूठा है, उसे गिरना होगा।

साधक अक्सर पूछता है, "यदि मैं पहले से वही हूँ, तो साधना क्यों?" क्योंकि जानना और जीना अलग हो सकते हैं। सूर्य है, पर बादल भी हैं। सूर्य को बनाना नहीं, बादलों को पहचानना है। तुम सत्य हो, पर पहचान मन में उलझी है। साधना सत्य पाने के लिए नहीं; असत्य की पकड़ ढीली करने के लिए है। जब तुम ध्यान करते हो, तुम ईश्वर को बुला नहीं रहे; तुम उस शोर से हट रहे हो जो पहले से उपस्थित सत्य को ढकता है। जब तुम भक्ति करते हो, तुम किसी दूर को प्रसन्न नहीं कर रहे; तुम अपने अहंकार को पिघला रहे हो। जब तुम विवेक करते हो, तुम आत्मा बना नहीं रहे; तुम अनात्म से पहचान हटा रहे हो।

जो तुम हो, उसे पाने की आवश्यकता नहीं। केवल जो तुम नहीं हो, उससे चिपकना बंद करना है।

"तुम ही वो हो" का अर्थ यह भी है कि खोज का केंद्र बदल जाता है। अब तुम ईश्वर को बाहर पाने नहीं जाते। तुम हर अनुभव में देखते हो कि वही चेतना चमक रही है। सुख आया—वही। दुख आया—वही। शांत ध्यान—वही। बेचैन मन—वही। प्रिय व्यक्ति—वही। कठिन व्यक्ति—वही। यह कोई विचारात्मक समानता नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि व्यवहार में विवेक न हो। विष को अमृत मत कहो। अन्याय को आध्यात्मिक भाषा से ढको मत। शरीर-मन के स्तर पर भेद हैं, कर्म हैं, जिम्मेदारियाँ हैं। पर गहराई में एकत्व है। अद्वैत व्यवहार को नष्ट नहीं करता; उसे सही स्थान पर रखता है।

व्यवहार में भेद, सत्य में अभेद।

जब यह पहचान गहराती है, जीवन बहुत सरल हो जाता है। पहले हर बात पर स्वयं की रक्षा करनी पड़ती थी। अब रक्षा की आवश्यकता कम होती है, क्योंकि जो सत्य है वह आहत नहीं होता। पहले प्रशंसा से फूलना और आलोचना से टूटना स्वाभाविक था। अब दोनों देखे जाते हैं। पहले प्रेम में स्वामित्व था। अब प्रेम में स्वतंत्रता आने लगती है। पहले सेवा में "मैं कर रहा हूँ" था। अब सेवा सहज होती है। पहले ध्यान कोई क्रिया थी। अब जीवन के बीच भी ध्यान की सुगंध रहती है। पहले ईश्वर विशेष समय में याद आता था। अब भूलना भी कठिन होने लगता है, क्योंकि सब उसी का रूप है।

पर इस पहचान को लेकर कोई आध्यात्मिक व्यक्तित्व मत बनाना। यह मन की अंतिम चाल है। "मैं जागा हुआ हूँ, मैं गुरु हूँ, मैं ज्ञानी हूँ"—ये सब यदि भीतर कठोरता बनें, तो यात्रा अधूरी है। सच्चे ज्ञान में स्वाभाविक विनम्रता होती है। विनम्रता इसलिए नहीं कि ज्ञानी स्वयं को छोटा मानता है, बल्कि इसलिए कि कोई अलग स्वयं बड़ा होने को बचा ही नहीं। आकाश विनम्र है क्योंकि वह सबको जगह देता है। सूर्य विनम्र है क्योंकि वह प्रकाश देता है और दावा नहीं करता। वृक्ष विनम्र है क्योंकि फल लगने पर झुकता है। सत्य की पहचान मनुष्य को जीवन के प्रति कोमल बनाती है।

जो सच में जानता है, वह कम दावा करता है, अधिक उपस्थित रहता है।

"तुम ही वो हो" सुनते ही मन पूछ सकता है, "फिर ईश्वर कहाँ है?" ईश्वर वहीं है जहाँ तुम हो, पर "तुम" व्यक्ति के रूप में नहीं। ईश्वर उस अस्तित्व में है जो तुम्हारे होने से पहले है। वह तुम्हारी आँखों से देख रहा है, तुम्हारे कानों से सुन रहा है, तुम्हारी साँस में चल रहा है। पर यह कहना भी आधा है, क्योंकि फिर लगता है कोई सत्ता तुम्हारे भीतर बैठी है। वास्तव में केवल चेतना है, जो इस शरीर-मन के माध्यम से यह अनुभव ले रही है। जैसे बिजली अनेक बल्बों में अलग-अलग चमकती है। बल्ब का आकार, रंग, क्षमता अलग हो सकती है, पर धारा एक है। यदि बल्ब कहे "मैं प्रकाश का मालिक हूँ," तो अज्ञान। यदि वह जान ले कि प्रकाश उसी से नहीं, उसी में से प्रवाहित है, तो विनम्रता।

शरीर-मन उपकरण है। चेतना प्रकाश है। तुम उपकरण की कहानी नहीं, प्रकाश का सत्य हो।

इस पहचान में भय का मूल कटता है। भय हमेशा किसी चीज़ के खोने का है—शरीर, संबंध, सम्मान, धन, पहचान, भविष्य। ये सब खो सकते हैं। अद्वैत इन्हें अमर घोषित नहीं करता। बल्कि साफ कहता है—जो खो सकता है, उसे खोने योग्य जानो। उसे प्रेम करो, संभालो, पर उसमें अपना अंतिम आधार मत रखो। तुम्हारा अंतिम आधार वह है जो किसी वस्तु पर निर्भर नहीं। यदि यह पहचान थोड़ी भी गहरी हो जाए, तो जीवन में एक नई स्वतंत्रता आती है। तुम अधिक पूर्णता से जीते हो क्योंकि पकड़ कम है। तुम प्रेम करते हो, क्योंकि खोने का भय प्रेम को कैद नहीं करता। तुम कर्म करते हो, क्योंकि परिणाम से तुम्हारी पहचान कम जुड़ी है।

मुक्ति संसार छोड़ने में नहीं, संसार को बिना झूठी पहचान के जीने में है।

अब प्रश्न उठता है—क्या इस पहचान के बाद साधना समाप्त? बाहर की साधना रूप बदल सकती है। कोई नियम आवश्यक नहीं रहता, पर जागरूकता स्वाभाविक हो जाती है। यदि ध्यान बैठने को मन हो, बैठो। यदि नाम जप उठे, जपो। यदि सेवा का अवसर मिले, करो। पर अब इनसे पहचान मत बनाओ। साधना अब पाने का साधन नहीं, सत्य की अभिव्यक्ति है। जैसे फूल सुगंध फैलाता है, कुछ पाने के लिए नहीं। जैसे नदी बहती है, किसी प्रमाण के लिए नहीं। वैसे ही जीवन चलता है।

तुम्हें ईश्वर तक पहुँचना नहीं; ईश्वर की तरह सरल होना है—अर्थात बिना केंद्र के, बिना दावा के, खुले।

यह अंतिम पहचान किसी विशेष धर्म की संपत्ति नहीं। यह मानव-चेतना का मूल सत्य है। ऋषियों ने इसे अलग शब्दों में कहा, सूफ़ियों ने अलग, संतों ने अलग, बुद्ध ने अलग मौन में संकेत किया। पर सत्य किसी परंपरा का बंधक नहीं। परंपरा मार्ग दे सकती है, पर सत्य मार्ग से बड़ा है। तुम जहाँ से आए हो, जिस रूप से जुड़े हो, जिस नाम से प्रेम करते हो—सबको सम्मान दो। पर अब जानो कि सत्य किसी नाम में कैद नहीं। यदि तुम्हारी पहचान सच में गहरी हुई, तो तुम्हारे भीतर संकीर्णता कम होगी, करुणा बढ़ेगी। तुम दूसरों की यात्रा का सम्मान करोगे, क्योंकि तुम जानोगे कि हर साधक अपने ही सत्य की ओर, अपनी गति से लौट रहा है।

किसी को जल्दी मत जगाओ। प्रकाश बनो; शोर मत बनो।

"तुम ही वो हो" का सबसे व्यावहारिक अर्थ है—अब स्वयं से भागना बंद करो। तुम अपने भीतर जो खालीपन महसूस करते थे, उसे संसार से भरने की कोशिश करते रहे। पर वह खालीपन वस्तुओं की कमी नहीं था; वह स्वयं से अनभिज्ञता थी। अब जब भी बेचैनी उठे, तुरंत बाहर मत भागो। ठहरो। पूछो—कौन बेचैन है? यह बेचैनी किसमें उठ रही है? क्या मैं इसे देख सकता हूँ? क्या देखने वाला बेचैन है? इस सरल अभ्यास में गहरा द्वार है। धीरे-धीरे तुम जानोगे कि हर लहर तुम्हें समुद्र की याद दिला सकती है।

जीवन की हर घटना गुरु बन सकती है, यदि देखने वाला जागता हो।

तुम्हारा क्रोध दिखाता है कि कहाँ अहंकार पकड़ रहा है। तुम्हारा भय दिखाता है कि कहाँ तुम अस्थायी में आधार खोज रहे हो। तुम्हारी ईर्ष्या दिखाती है कि तुम स्वयं को अधूरा मान रहे हो। तुम्हारा प्रेम दिखाता है कि अलगाव पूरी तरह सच नहीं। तुम्हारा मौन दिखाता है कि शब्द अंतिम नहीं। इस तरह पूरा जीवन साधना बन जाता है। अब कोई अलग आध्यात्मिक कोना नहीं। घर, काम, संबंध, अकेलापन, सफलता, असफलता—सब उसी सत्य की प्रयोगशाला है।

पर याद रखो, यह पहचान किसी भावनात्मक उत्तेजना में स्थायी नहीं होती। गहराई में उतरने के लिए बार-बार स्मरण चाहिए। स्मरण का अर्थ शब्द दोहराना नहीं; स्वयं में लौटना। दिन में कई बार रुकना और देखना—मैं अभी किससे पहचान कर रहा हूँ? क्या मैं शरीर की चिंता हूँ? मन की कहानी हूँ? भूमिका हूँ? या वह जागरूकता हूँ जिसमें यह सब प्रकट है? यह प्रश्न धीरे-धीरे तुम्हें केंद्रहीनता में स्थिर करेगा। और एक दिन यह प्रश्न भी आवश्यक नहीं रहेगा। जैसे नदी समुद्र में पहुँचकर नदी नहीं रहती, वैसे ही साधक सत्य में विश्राम करके साधक नहीं रहता।

तब ईश्वर कौन है? पूछो तो उत्तर नहीं आता, मुस्कान आती है। क्योंकि प्रश्न पूछने वाला ही उत्तर में पिघल चुका है। अब ईश्वर को परिभाषित करना वैसा ही है जैसे जीभ अपने स्वाद को चखना चाहे। असंभव नहीं, पर भाषा से परे। अब जो सामने है, वही है। बच्चे की हँसी, वृद्ध की आँख, नदी की धारा, मृत्यु का मौन, मंदिर की घंटी, बाज़ार का शोर, ध्यान की शांति, मन की हलचल—सब उसी एक अज्ञेय की तरंगें हैं। और तुम उनसे अलग नहीं।

तुम्हारा होना ही ईश्वर की गवाही है।

यह अंतिम वाक्य कोई विश्वास मत बनाना। इसे अपने भीतर जाँचो। अभी बैठो। शरीर है—जानो। विचार है—जानो। भाव है—जानो। "मैं" का अहसास है—जानो। अब देखो, जानने की यह रोशनी क्या प्रयास से आई? क्या यह किसी वस्तु पर निर्भर है? क्या इसे बाहर से लाना पड़ा? यही निकटतम है। इतना निकट कि तुमने इसे कभी वस्तु की तरह नहीं देखा। यही तुम्हारी सच्ची पहचान है। यही वह है जिसे खोजते-खोजते तुमने जन्मों की थकान ओढ़ ली। अब ठहरो।

तुम वह नहीं जिसे ईश्वर चाहिए। तुम वही हो जिसमें ईश्वर का प्रश्न उठता है, ईश्वर की भक्ति जलती है, ईश्वर का रूप खिलता है, ईश्वर का अरूप मौन है।

स्वरूप से अरूप तक की यात्रा वास्तव में दूरी की यात्रा नहीं थी। यह गलत पहचान से सही पहचान की यात्रा थी। पहले तुमने ईश्वर को रूप में देखा। फिर प्रेम में पिघले। फिर मन और माया को पहचाना। फिर साक्षी में ठहरे। फिर साक्षी भी पिघला। अब केवल यह रह गया—अद्वैत। न साधक अलग, न साध्य अलग, न मार्ग अलग। सब उसी में, उसी से, उसी का।

और यदि कल फिर मन उठे, भय आए, भ्रम आए, तो निराश मत होना। बादल आएँगे। पर अब तुम्हें आकाश की याद है। स्मरण में लौटो। सत्य खोता नहीं, केवल ध्यान हटता है। हर बार लौटना आसान होगा। हर बार पकड़ थोड़ी ढीली होगी। हर बार भीतर की शांति थोड़ी अधिक स्वाभाविक लगेगी। अंत में तुम्हें समझ आएगा कि मुक्ति कोई घटना नहीं थी। मुक्ति तुम्हारी प्रकृति थी। बंधन केवल विश्वास था।

तुम ही वो हो। अभी। यहीं। बिना शर्त।

अभ्यास

शांत बैठो और धीरे से अनुभव करो, "मैं हूँ।"
इसमें कोई नाम मत जोड़ो।
न शरीर, न भूमिका, न कहानी।
केवल "मैं हूँ" में ठहरो।
फिर देखो—यह "मैं हूँ" कहाँ समाप्त होता है?